जीवन-साहित्य

(दूसरा भाग)

अर्थात्

आचार्य कालेलकर का लेख-संग्रह

अनुवादक

शास्त्र-निष्णात कलाभूषण

पण्डित श्रीनिवासाचार्य द्विवेदी

प्रकाशक

सस्ता-साहित्य-मण्डल

अजमेर

प्रथमवार] १९२८. [मूल्य ॥)

प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

हिन्दी-प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय उनकी पृष्ठ संख्या और मूल्य जरा विचार कीजिए। कितनी उत्तम और साथही कितनी सस्ती है! मंडल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थाई ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए है, उन्हे एक बार आप अवश्य पढ़ लीजिए।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मण्डल के ग्राहक हैं तो अपना नंबर यहाँ लिख रखिये, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर जरूर लिखा करे।

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

प्रकाशक का वक्तव्य

गुजरात विद्यापीठ के आचार्य काका कालेलकर की लेखनी में कुछ ऐसी विलक्षण प्रसन्नता है कि वह गहन से गहन विषयो को भी सरल और मनोरंजक बनाकर हमारे सामने रख देती है। काका साहेब द्वारा लिखित 'जीवन साहित्य' के प्रथम भाग का पाठको ने जिस प्रेम के साथ स्वागत किया है, उसके लिए हम उनके कृतज्ञ है। और इसीलिए 'जीवन साहित्य' का यह दूसरा भाग उनकी सेवा मे समर्पित करते हुए हमे हर्ष हो रहा है। इसमे शिक्षा, तत्त्वज्ञान, और राजनीति पर काका साहब के मौलिक एवं प्रौढ़ लेख पढकर पाठक और भी प्रसन्न होगे। श्रीमान् बाबू राजेन्द्र-प्रसाद जी ने इस पुस्तक के प्रथम भाग की भूमिका मे लिखा है 'हमारी सभ्यता, संस्कृति और आचारो पर उन्होने नयी रोशनी डाली है'। अत' यह पुस्तक प्राचीनता का अनुगमन करने वाले पुराण-प्रिय लोगो, एवं सुधारक होने का अभिमान करने वाले नवीन रोशनी के युवको के लिए भी एकसी लाभ दायक है। हमे आशा है 'जीवन साहित्य' के इस द्वितीय भाग को भी हिन्दी भाषी जनता उसी तरह अपनावेगी।

प्रकाशक

लागत का ब्यौरा

कागज	२३०)
छपाई	२२०)
बँधाई	४०)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	३७०)
	८६०)

प्रतियाँ २०००

एक प्रति का लागत मूल्य ।≡)

इस पुस्तक का प्रथम भाग सन २६ में छपा है

पृष्ठ संख्या २१८ मूल्य ॥)

थोड़ी सी प्रतियाँ बची हैं

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—आत्मा का उद्बोधन	१
२—ॐ	१२
३—सत्य निर्णय	१४
४—तत्त्व और व्यवहार	२०
५—तर्क और भावना	२२
६—पुराने खेत में नई जोत	२५
७—धर्म-संस्करण	२७
८—क्या हिंसा स्वाभाविक है?	३३
९—कला जीवन और तत्त्वज्ञान	३७
१०—जीवन कला	४५
११—प्राचीन साहित्य	५७
१२—"नदी मुखे नैव समुद्रमाविशेत्"	६७
१३—जीवन का संगीत	७०
१४—आवश्यक दृष्टि	८६
१५—केवल शिक्षा	८९
१६—शिक्षा-शास्त्री का कर्तव्य	९२
१७—वृत्त-विवेचन	९९
१८—विचार-कलिका	११६
१९—वन्दे मातरम्	१२४
२०—धर्म-भूमि—	१२७
२१—राष्ट्र-पूजा-धर्म	१३३

जीवन-साहित्य

(दूसरा भाग)

काका कालेलकर

जीवन-साहित्य

शारदा का उद्बोधन
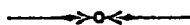
हम ठीक ठीक नही जानते कि किस नवमी के दिन सुरो ने शारदा का उद्बोधन किया। पर अवश्य ही वह बड़ा ही शुभ, सुभग और कल्याणकारी मुहूर्त होगा। समृद्धिदायिनी वर्षा के बाद जो शान्ति, जो निर्मलता, जो प्रसन्नता दृष्टिगोचर होती है, उसीमे देवो को शारदा का दर्शन हुआ। पृथ्वी ने अभी नील रंग को छोड़ नहीं दिया है। परिपक्व धान्य सुवर्ण-वर्ण को धारण करने लगा है। ऐसे ही समय पर देवो ने शारदा का ध्यान किया। सज्जनो के हृदय के समान स्वच्छ जल मे विहार करने वाले कमल, और आकाश मे अनन्त काव्य के फव्वारे छोड़ने वाला चंद्र जब एक दूसरे का ध्यान कर रहे थे, तभी देवो ने शारदा का आवाहन किया था। शारदा आई, और पृथिवी के वदन-कमल पर हास्य नाचने लगा। शारदा के आते ही वन-श्री का गौरव बढ़ा। शारदा के आते ही घर-घर समृद्धि फैली। शारदा के आते ही

वीणा का झरणत्कार शुरू हुआ, और संगीत का नृत्य भी ठौर ठौर आरम्भ हुआ।

शारदा का स्वरूप कैसा है ? बाला ? मुग्धा ? प्रौढ़ा ? या पुरन्ध्री ? शारदा मंजुल-हासिनी बाला नहीं, मनोमोहिनी मुग्धा नही, विलास-चतुरा प्रौढ़ा भी नहीं। वह नित्य-यौवना पर स्तन्य-दायिनी माता है। वह हमारे साथ खेलती है, हंसती है; पर वह हमारी सखी नही, माता है। हम उसके साथ बालोचित क्रीडा कर सकते हैं, पर हमे यह न भूलना चाहिए कि हम माता के सम्मुख खड़े हैं। माता अर्थात् पवित्रता, वत्सलता, कारुण्य और विश्रब्धता। माता अर्थात् अमृतनिधान। 'न मातु' पर दैवतम्।' यह वचन किसी उपदेशप्रिय स्मृतिकार का नही है। यह तो किसी मातु:पुत्र धन्य बालक की अमृतवाणी है।

सृष्टि के ऐक्य को अनुभव करने वाले हम आर्यसंतान एक शब्द मे कई अर्थों को देखते हैं। शारदा का अर्थ है सरोवर में खिलने वाले कमलो की शोभा। शारदा है अश्विनी-पूर्णिमा, और दीपावली की शोभा। शारदा है यौवन-सहज-क्रीडा। शारदा है कृषि-लक्ष्मी। शारदा है साहित्य-सरिता। शारदा है ब्रह्म-विद्या, चिच्छक्ति। शारदा है विश्व-समाधि। यह हमारी माता, हम उसके बालक। कैसी धन्यता ! कैसी स्पृहणीय पदवी ! कितना बड़ा अधि-कार ! और साथ ही कितनी बड़ी दीक्षा !

जिन लोगो को शारदा के स्तन्य का स्पर्श हुआ है वे, अपवित्र वाणी का उच्चार नही करेंगे, निर्बलता के वचन नही उच्चारेंगे, द्वेषोद्गार नही निकालेंगे, पाप को नही सजावेंगे, पौरुष का हनन नही करेंगे और न मुग्धजनों को ठगेंगे।

शारदा के मंदिर मे सर्वोच्च कला हो, कला के नाम विलसती विलसिता नही ! शारदा के भवन मे प्रेम का वायुमण्डल हो, सौंदर्य का मोहन नही । शारदा के उपवन मे प्राण का स्फुरण हो, निराशा का निःश्वास नही । शारदा की लता-कुंजो मे विश्वप्रेम का संगीत हो, परस्पर अनुनय का कल-कूजित नही । शारदा के विहार मे स्वतन्त्रता की धीरोदात्त गति हो, उद्देशहीन और स्खलनशील पद-क्रम नही । शारदा के पीठ मे ब्रह्मरस का प्रवाह हो, विषयरस का उन्माद नही ।

माता शारदा ! हमे ऐसा आशीर्वाद दे, कि जिससे तेरा अखंड स्मरण हमे बना रहे । हम अधिकारी हो जायँ तब तेरा दर्शन भी हो । जब कभी हमारा ध्यान अविचल हो, और हमारी भक्ति एकाग्र और उत्कट हो, तब हमे तेरी दीक्षा देना । और तेरी सेवा के पूरी तरह योग्य बन जाने पर, हमे एक मात्र तेरी सेवा की ही धुन रहे यही भिक्षा देना । तुझे कोटिशः प्रणाम है ।

या देवी सर्व भूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता
नमस्तस्यै नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः

ॐ

(एक प्रवचन)

ॐकार हमारा सर्व-श्रेष्ठ मन्त्र है। उसका दर्शन और श्रवण दोनो गम्भीर और आल्हादजनक हैं। इस प्रणव का रहस्य-उद्घाटन करने के लिए ऋषिओ ने एक पूरी उपनिषद लिख डाली पर फिर भी उसका पूर्ण रहस्य नही खुला। इस ॐ का क्या अर्थ है ? ॐ के मानी है सनातन 'हाँ'। सशय, अश्रद्धा, नास्तिकता आदि सब को एक स्मित से दूर करने की शक्ति इस प्रसन्न 'हाँ' मे भरी हुई है। ॐ कहता है ब्रह्म है; यह संसार है, भूत, भविष्य, वर्तमान, सभी है। उनका पारस्परिक सम्बन्ध जैसा चाहे, आप जोड़ दे— कल्पना कर लें—वह सब कुछ है। इसलिए सब एक ही है, कुछ न हो सो नहीं। जहाँ ॐ है, वहाँ असत्य के लिए स्थान ही नही।

यही सत्य-नारायण है। यही हमारा प्रिय सखा है। इसके नजदीक रहकर हम सब सुखी है। जीवन-यात्रा मे कितने ही मार्ग हमे ललचाते है, पद-पद पर शंका होती है। हम समझ नही पाते कि सर्वोच्च आदर्श कौनसा है। क्षण-क्षण पर धर्म-संकट उपस्थित होते है। पर आप इस प्रिय सखा ॐ अथवा शुद्ध सत्य का पाणि-ग्रहण करके चलिएगा। फिर आपको कही भय न होगा। समाज-सेवा करनी है ? ठीक है कीजिएगा। पर सत्य का हाथ छोड़कर नही। दान परोपकार करना चाहते हैं ? अवश्य, पर सत्य के प्रति वफादार जरूर बने रहिए। शास्त्रो की रचना करना है ? शौक से, पर जरा संभलकर, जहाँ तक सत्य ले जाय—वही तक। और सब का साथ करने से भय हो सकता है। पर जिस प्रकार बालक के लिए उसको

माता परम आप्त एवं परम कल्याणकारिणी होती है, उसी प्रकार सत्य मनुष्य के लिए है। शेष सब बातें बाह्य हैं।—या तो उन्हे प्राप्त करना पड़ता है या उन्हे विकसित करना पड़ता है। पर सत्य तो हमारे जितना ही, बल्कि हम से भी अधिक पुराना है। वधू सुसराल के सभी मनुष्यों की श्रद्धा पूर्वक सेवा करती है। पर अपनी निष्ठा तो वह पति को ही अर्पण कर देती है। उसी प्रकार, जिस क्षेत्र मे चाहे आप काम कीजिए, कोई भो जिम्मेदारी का काम या साधना शुरू कीजिए, पर अपने इस प्रिय सनातन साथी को कभी न भूलिए। इसका साथ कभी न छोड़िए। इसी के पीछे संसार भी है। यही ईश्वर भी है। अपनी दृष्टि को अन्तर्मुख करने पर आप देखेंगे कि आत्मा भी इससे भिन्न नही है। सत्य के मानी केवल व्यावहारिक प्रमाणिकता ही नही है। सत्य के मानी केवल यथार्थ कथन नही। सत्य तो शुरू से ही हमारे साथ है। ज्यो-ज्यो हम उन्नति करते जाते हैं, त्यो त्यो हमे उसका सूक्ष्मतर दर्शन होता जाता है। वास्तव में ऐसा एक भी प्राणी न होगा जिसे सूक्ष्म नही तो स्थूल सत्य के भी दर्शन न हुए हो। इसीलिए सब को आशा है, और ज़िम्मेदारी है। सत्य का दर्शन ही जीवन का सार है। शेष सब नि सार ही समझिए। अपने उस हृदयेश्वर को हमे धोखा नही देना चाहिए। वह हमे कभी धोखा नही देगा। वह कल्याणकारी है। यह उसकी एक सुंदरता है, सिफारिश नही। उसकी सिफारिश तो यही है कि वह सत्य है। उससे उत्पन्न होने वाली प्रत्येक प्रवृति का अन्तिम फल सत्य ही है, इसका अनुभव मिलने पर ॐ ही हमारा महाकाव्य हो जाता है। उसकी रटन ही मे हमारा अखण्ड समाधान है।

सत्य-निर्णय

संसार मे अनादि काल से सत्यान्वेशण का काम चला आया है। यह तो मनुष्य ने जान लिया कि सत्य यही परम धर्म है। परन्तु सत्य क्या है, यह अभी उतना प्रकट नही हुआ और इसी से संसार का व्यवहार साशङ्क और भयावह वन गया है। ईश्वर का स्वरूप कैसा है, हजार दो हजार वर्ष तक अगर इस वात का अन्तिम निर्णय न भी हो तो काम चल सकता है। परन्तु सत्य का स्वरूप निश्चित किये विना एक क्षण भी काम नही चल सकता। कदम कदम पर हमे सत्य का निर्णय करना पडता है। मनुष्य अल्पज्ञ है, सर्वज्ञ तो अकेला ईश्वर ही है। अत परम सत्य क्या है, यह तो केवल ईश्वर ही जाने। तथापि सत्य के सम्बन्ध मे हमे जितना और जैसा साक्षात्कार हुआ है, उसीके आधार पर हमे अपना व्यवहार चलाना पड़ता है। श्रद्धा कहती है, परम सत्य—एक मात्र सत्य-जरूर कहीं न कही होगा। अनुभव कहता है, हरएक मनुष्य को अपने को सूझी हुई वस्तु ही सच्ची मालूम होती है। अत' सत्य मे प्रत्येक व्यक्ति के अनुसार विविधता उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह ठीक है कि वासना सत्य के वास्तविक स्वरूप को ढँक देती है, और मोह के कारण हम उसका दर्शन नही कर सकते। किन्तु हम जिन्हे वीतराग और स्थितप्रज्ञ गिनते है उनमे भी तत्व-विषयक मत-भेद

देख कर सत्यान्वेषण के सम्बन्ध मे निराशा उत्पन्न होती है। तथापि सत्यान्वेषण की यात्रा किसी क्षण भी बन्द नही होगी, क्योकि वही जीवन-यात्रा का प्रधान उद्देश है।

सत्यान्वेषण जीवन-यात्रा का प्रधान उद्देश होने के कारण हम अपनी जीवन-विषयक कल्पना के अनुसार सत्य का निर्णय करने का प्रयत्न करते है। कुछ लोग बाह्य जीवन को अधिक महत्व देते है, तो बहुतेरे आन्तर-वृत्ति को। कितने ही सामाजिक निर्णय को ही प्रमाण मानते हैं, तहाँ दूसरे कितने ही लोग व्यक्ति-गत अन्त.स्फूर्ति को सर्वोपरि मानते है। इन दोनो मे से कौनसा पक्ष श्रेष्ठ है यह अभी निश्चित नही हुआ किन्तु जिस दिन वह निश्चित हो जायगा उसी दिन परम सत्य की खोज भी हो जायगी।

इस भेद के अनुसार अन्त.स्फूर्ति को अधिक महत्व देनेवाले मनुष्य कहते हैं, कि हरएक व्यक्ति को निष्पक्षता से जो सत्य लगता है, वही उसके लिए सत्य है। सारा संसार एक ओर हो और वह अकेला दूसरी ओर रहे तो भी वह अपने को जो बात सत्य मालूम हो उसीको पकड़े रहे, सत्य कभी धोखा नहीं देता। दूसरा पक्ष कहता है कि हरएक मनुष्य—हरएक व्यक्ति कितना अल्पज्ञ होता है? उसका अनुभव इतना मर्यादित होता है कि, व्यक्ति की सत्य-विषयक कल्पना पर आधार रखना मिथ्याभिमान है। यह जगत् सत्य है, इस जगत् का व्यापार सत्य है, हमारी क्षणिक कल्पना असत्य है। व्यक्ति मरणाधीन है, पर समाज उसकी तुलना मे अमर है। व्यक्ति मोहावृत है, उसकी अपेक्षा समाज में अधिक योगयुक्त रहता है। इसीसे तो संसार का व्यवहार पंचो के निर्णय द्वारा चलाया जाता है। आप कहते है कि सत्य परम मङ्गल है। यदि

यह बात सच्ची हो तो आप को यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि जो परम मङ्गल है वह सत्य है। हम इस सिद्धान्त को मानते हैं इसीलिए जगद्गुरु ने कहा है:—

यद् भूतहितमत्यन्त तत्सत्यमिति नः श्रुतम्।

इस जगह जगद्गुरु ने 'इति मे मति.' नहीं कहा। 'नः श्रुतम्' हमने पूर्वाचार्यों से सुना है, अर्थात् कहने और सुनने वाले अनेक है। सत्य की व्याख्या करने का अधिकार भी समाज ही को है, ऐसा जगद्गुरु ने 'न श्रुतम्' कह कर स्पष्ट कर दिया है। प्राणिमात्र का आत्यन्तिक कल्याण जिससे हो वही सत्य है। हमे नही मालूम होता कि, इस व्याख्या पर कोई आक्षेप कर सकेगा। परम माङ्गलिक, सर्वभूतहितकर सत्य का निर्णय दूसरी तरह किया ही नही जा सकता। आज हमारा प्राणिमात्र के साथ समभाव न हो। जिस हद तक मनुष्य मे प्रेम-वृत्ति का विकास हुआ होगा, उसी हद तक वह भूत-हित का व्यापक अर्थ भी कर सकता है और उसी परिमाण मे उसे सत्य का स्थूल या सूक्ष्म साक्षात्कार भी हो सकता है। बहुतेरे लोगो के ख्याल मे कुटुम्ब हित मे ही भूतहित है। इससे ऊँची श्रेणी के मनुष्यों के ख्याल में मनुष्य जाति, सम्प्रदाय अथवा राष्ट्र-हित ही क्रमश. सम्पूर्ण भूत-हित है। आज सर्वोच्च कोटि के मनुष्यो मे भी भूतहित के मानी मनुष्य-हित ही किया जाता है। मालूम होता है, कि निष्पाप जीवन बिताने के लिए शहद और तीड पर अपनी आजीविका चलाने वाले, बाइबिल मे वर्णित साधु भी मनुष्य-हित को ही भूत-हित मानते थे। जिस प्रकार भूतहित-विषयक यथार्थ ज्ञान क्रमश प्राप्त होता है, उसी प्रकार 'अत्यन्त' शब्द का भाव भी क्रमशः स्फुट

होता है। आज क्षुद्र स्वार्थ के लिए, क्षणिक लाभ के लिए राष्ट्र की हानि करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा देश-हित के लिए अपना सर्वस्व अर्पण कर देने वाले व्यक्ति 'अत्यन्तम्' का अर्थ अधिक जानते है। उसी प्रकार न्याय अन्याय का बिना किसी तरह विचार किये राष्ट्रोपासना करनेवाले व्यक्ति की अपेक्षा मानव-कोटि का हित-संचय करने के लिए केवल परम-धर्म का ही अवलंबन करनेवाले मॅझीनी, टॉल्स्टॉय या गांधी जैसे महात्मा 'अत्यन्तम्' का अर्थ और भी अधिक जानते है। इस तरह ज्यों ज्यो समाज मे भूत-हित और अनन्त काल का साक्षात्कार बढ़ता जायगा त्यो त्यो सत्य का दर्शन अधिकाधिक स्पष्ट होगा।

इस तरह सत्य की कसौटी दो रीति से होती है; व्यक्तिगत धर्म-बुद्धि (Individual conscience) द्वारा अथवा समाज-बुद्धि (Social conscience) निर्णीत आत्यन्तिक कल्याण की कल्पना द्वारा। दोनो निर्णयो मे भय तो अवश्य ही है। और इसीलिए उनमे से प्रत्येक पक्ष के समर्थको ने उसके लिए एक एक उतार भी बताया है। अन्तः करण-प्रवृत्ति की पूजा करने वाला सम्पूर्ण संसार पर अत्याचार कर सकता है उसके आत्मविश्वास मे अहङ्कार भी हो सकता है। ऐसे मनुष्य का संग्रह करने से समाज-सुरक्षित भी न रहे। दूसरी ओर यह खतरा है कि समाज निर्णय को धर्म-पद देने वाला कही प्रगति का विरोधी और रूढ़ि का दास न बन जाय? इसके साथ लड़लड़ के ही सत्य को अपना रास्ता साफ करना पड़ता है। समाज-निर्णय का संमान करने मे विनय अवश्य है, पर उसमें आत्मिक विकास के लिए अनुकूलता नही।

इन त्रुटियों के कम करने के उपाय भी देखने चाहिए। अतः करण-प्रवृति का पूजक अपने हाथ मे सत्ता या ऐश्वर्य लेने में हिचकता है। किसी तरह का भी अधिकार हाथ मे न ले यही उसका अधिधर्म है। यदि वह इस धर्म का पालन न करेगा, तो वह अपनी उन्नति मे अपने हाथों विघ्न खड़े कर समाज के लिए असह्य हो जायगा। इसलिए उसे अपने सिद्धान्त से सन्वन्ध रखने वाली बातो मे तिल भर भी न झुकना चाहिए। परवा नही, फिर यदि सारा संसार भी उसके प्रतिकूल हो जाय। परन्तु जहाँ तत्व का प्रश्न न हो, वहाँ उसे कदापि आग्रह नही करना चाहिए। गौण बातो मे निराग्रही रह कर कदम-कदम पर लोकमत का संमान कर उसे अपने को होम देना चाहिए। यही उसके लिए धर्म का रास्ता है, दूसरा नही। समाज-निर्णय को प्रधान पद देने वाले अपने सिद्धांत के लिए आग्रही बन कर, शेष बातो में हाथ-पैर समेट कर अपने को समाज के हाथो मे सौंप देने वाली कूर्म-वृत्ति नही रख सकते। उनका वह धर्म नही। वे अपने विषय में विनयपूर्वक अश्रद्धा रखते हैं। परन्तु समाज पर-जनता पर-उनकी अमर्याद श्रद्धा रहती है। वे जनता ही को जनार्दन मानते हैं। उनका ख्याल है कि संसार का व्यवहार अधिकार ही से चलता है, सत्ता ही से चलता है। राष्ट्र तो समाज-सम्राट् की शुभचिंतक प्रजा है। और उस सम्राट् ही को उसका नियमन करना चाहिए।

हिन्दूधर्म मे इन दोनो धर्म-वृत्तियो के दो महान् उदाहरण भी मौजूद है।—राजा रामचन्द्र और जगद्गुरु श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण ने किसी दिन राज्यपद अपने हाथ मे नहीं लिया; और समाज को संतुष्ट रखने के लिए सीता का त्याग या शम्बूक का

वध करते हुए राजा रामचन्द्र भी बिलकुल नहीं हिचके। कौन कह सकता है कि इन दोनो संप्रदायो मे से कौनसा पुराना और कौनसा श्रेष्ठ है? श्रीकृष्ण दोनो को एक से उत्तम मानते थे और अपने शिष्यो मे से जिसका जो अधिकार होता, उसे उसी तरह का उपदेश देते थे। इसी कारण उद्धव-गीता और अर्जुन-गीता का पृथक पृथक निर्माण हुआ। ईश्वर की योजना अथवा सत्य की सुंदरता के कारण इन दोनो मे विरोध नही हो सकता। और इसीसे विश्व का व्यापार आज तक सुव्यवस्थित रीति से चला आया है। जब जब वृत्ति-भेद का यह उत्तम रहस्य ध्यान में नही आया, अथवा जब-जब मोह के कारण समर्थ व्यक्तियो ने इस विशिष्ट वृत्ति-भेद मे स्वधर्म का पालन नहीं किया, तभी तब ससार मे दुष्टता उत्पन्न हुई और उत्पात भी हुआ है।

तत्त्व और व्यवहार
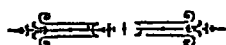
"आप तो आदर्श-लोक के निवासी ठहरे। व्यवहार में ऐसे आदर्श नहीं काम दे सकते। यहाँ तो संयोगों का स्वागत करते हुए व्यवहार की रक्षा करने वाला मनुष्य ही निभ सकता है। "यो कहने वाले तो कदम-कदम पर मिलते हैं। पर हमें यह हमेशा देखना चाहिए कि यह व्यवहार और ये संयोग हैं क्या चीज ?

व्यवहार एक सत्य वस्तु है, परन्तु यह नहीं कि यह सर्वदा अच्छी ही वस्तु हो। बीमारी मे हानिकारक भोजन पर भी मन दौडता है। यह वासना भी सच्ची तो है ही, पर उसके वश में हो जाना श्रेयस्कर नही और न उसमे पुरुषार्थ ही है।

तत्व ऊपर को ले जानेवाली वस्तु है और व्यवहार नीचे को। संसार मे इन दोनो के बीच सनातन युद्ध होता चला आया है। हां, इन के बीच समझौता या सुलह करने के लिए अबतक अनेकों प्रयत्न भी होते आये हैं, किन्तु व्यवहार बड़ा दुराग्रही। तत्व-पक्ष तो समाधान की शर्तों को स्वीकार करलेता है, परन्तु व्यवहार-पक्ष तो उसे ज्यो-ज्यो रिआयतें मिलती जाती हैं, त्यो-त्यो और भी रिआयतें माँगता जाता है, और अन्त मे तत्व का खून तक कर डालता है। इसलिए तत्व-पक्ष को सदा सावधान रहना चाहिए। उसे कभी व्यवहार के साथ हमेशा के लिए समझौता नही कर लेना चाहिए।

तत्व और व्यवहार के इस सनातन युद्ध मे हम कौनसा पक्ष ग्रहण करे ? किस पक्ष से सहानुभूति रक्खे ? किसके झण्डे के नीचे खड़े रहे ? जीवन मे यही बड़े से बड़ा प्रश्न है। जीवन मे व्यवहार-पक्ष का अस्तित्व तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। पर इसमे दो बाते है। एक तो केवल व्यवहार पक्ष का अस्तित्व स्वीकार कर लेना और दूसरे, उसका सहयोगी बनना। व्यवहार-पक्ष प्रारम्भ मे सदा सौम्य, समझदार और उत्तम स्वभाव वाला मालूम होता है, और इसीसे हम उसके वश हो जाते है। परन्तु जहां एक बार व्यवहार-पक्ष की ओर मत दिया नही, उसकी तरफ से हाथ ऊँचा किया नही कि उसका साम्राज्य हमारे सिर पर हुआ नही। और प्रारम्भ हो जाने के बाद तो व्यवहार की हुकूमत तेजी से बढ़ती ही जाती है।

व्यवहार इतना चतुर है, कि तत्व का खून करने के बाद भी वह उसके शव को इस ढंग से सुरक्षित रख छोड़ता है कि, जिससे तत्व-पक्ष वालो को यह भ्रम बना ही रहे कि, अभी तो तत्व जीवित है। व्यवहार हमेशा कहता है, 'नाम मात्र के लिए राजा चाहे कोई हो, मुझे उसकी पर्वा नहीं, सत्ता अगर मेरी ही हो तो मेरे लिए काफी है।'

आज हमारे समाज मे तत्ववादी कितने है, और व्यवहारवादी कितने ? जब किसी राष्ट्र मे तत्ववादियो की संख्या बढ़जाती है तब देश की उन्नति होती है। व्यवहारवादियो ने किसी समय किसी भी समाज या राष्ट्र का उद्धार नही किया।

तर्क और भावना
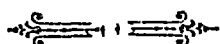
तर्क और भावना ये दोनो मनुष्यता के आवश्यक अङ्ग है। तर्क-शून्य भावना जितनी दोषरूप है उतना ही भावना शून्य तर्क भी दुष्ट है। जब बुद्धि और हृदय दोनो का मेल होता है तभी मनुष्य की सच्ची उन्नति होती है। यह बतलाना कठिन है कि इन दोनो मे प्रधान कौन है और गौण कौन? फिर भी यह बात तो शास्त्र शुद्ध और अनुभव सिद्ध भी है कि, मनुष्य की मनुष्यता का आधार विशेष कर भावना ही है। परमात्मा के वचन है, 'यह पुरुष श्रद्धामय है' 'जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा उस का जीवन' तर्क में प्रेरणा नही, जीवन-रस नही। वह तो प्रेरणा का पहरेदार मात्र है। जिस प्रकार एक मुग्ध राजकन्या जब तक तेजस्विनी नही हो जाती तब-तक उसके संरक्षण के लिए पहरेदार रखने पड़ते है। उसी प्रकार तर्क की प्रतिष्ठा तभी तक है जब तक कि प्रेरणा अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रकट नही हो जाती। वास्तव मे तर्क की अपनी कोई प्रतिष्ठा नही।

तर्क मे शौर्य नही, तर्क मे वीर्य नही, तर्क मे कार्य-प्रेरक साहस नहीं, तर्क मे त्याग नही। निरन्तर जागरण से उसकी आँखे तर रहती हैं। वह अत्यन्त सावधान अतएव निर्दय होता है। अकेला तर्क मनुष्य को स्वहितवादी बनाकर अधोगति के गड्ढे मे डाल देता है। तर्क के हाथ मे वैश्यधर्म की तराजू होती है।

भावना में वीर-वृत्ति है। भावना मे दिव्य दृष्टि है। उसकी सरलता उसकी रक्षा करने वाला कवच है। भावना के अतिरेक से होने वाली हानि क्षणिक और तुच्छ होती है। तर्क के अतिरेक से होने वाली हानि तो स्वयं आत्मा ही को क्षीण कर डालती है।

संसार मे एक भी मनुष्य ऐसा नही जिस मे तर्क और भावना का मेल न हो। तथापि सारा दारोमदार इसी वात पर है कि उसके हृदय मे राजसिंहासन किसे प्राप्त होता है। यदि तर्क राजा वन कर भावना को अपनी दासी वना लेगा तो मनुष्य धूर्त और विद्वान् पशु वन जायगा। भावना का ढोंग वना कर वह ससार को वहुत वड़ी देर तक ठग सकता है। हाँ, और अपने को भी वह कुछ कम नही ठगेगा।

इस इससे विपरीत यदि मनुष्य भावना को हृदयेश्वरी और तर्क को उसका विश्वास पात्र सेवक वना दे तो वह ऐहिक और पारलौकिक उन्नति भी कर सकेगा। उससे समाज की मनुष्यता का सम्पूर्ण विकास हो सकता है, और हरएक व्यक्ति समाज का सच्चा स्वरूप पहचान कर उसकी सच्ची सेवा कर सकता है।

इस देश मे अंगरेजो ने जो अँगरेजी विद्या शुरू की है वह प्रॉटेस्टेंट-वृत्ति-प्रधान है। उसे भावना पर वड़ी अश्रद्धा है। भावना तो मनुष्य के मन का एक विकार है. वुद्धि ही मनुष्य का सार-सर्वस्व है, स्वार्थदृष्टि अत्यन्त स्वाभाविक अतएव उचित है और तर्क की दूरदृष्टि द्वारा संपादित स्वार्थ ही सकल जगत् का कल्याण कर सकता है—ऐसे विचारो की नीव पर प्रॉटेस्टेट विद्या की इमारत खड़ी है। हम अँगरेजो की विद्या लेकर ख्रिस्ती तो नहीं वने, पर प्रॉटेस्टेट ज़रूर हो गये हैं। इसी कारण हमारी सामा-

जिक और राजकीय हलचलो मे आज तक हमने ऐहिक सुखोप-भोग, स्वच्छन्द और व्यक्तिगत स्वार्थ को स्वाभाविक समझ कर उन्हे प्रतिष्ठा अर्पण की है। स्वार्थ और सुख लालसा स्वयं ही इतने बलवान् है कि, उनका अपमान करते रहने पर भी मनुष्य के हृदय पर उनका प्रभाव अनेकवार पड़ता ही है। फिर इन्हे सामा-जिक प्रतिष्ठा मिलने पर तो इनके लीला-विस्तार की बात ही क्या करनी है ? बेशक, अन्तिम लाभ के लिए क्षणिक त्याग और असुविधा उठाने को यह प्रॉटेस्टेन्ट वृत्ति जरूर तैयार हो जाती है। पर यह तो असुरो की तपस्या है। तपस्या मे दैत्य देवताओं से कम नही होते।

मेरे कहने का अभिप्राय यह नही कि, मनुष्य तर्क का समूल त्याग करदे। तर्क जिस भावना को उखाड सकता है वह शुद्ध भावना नही, वह तो मोह होता है। उसका त्याग ही करना श्रेय-स्कर है। शुद्ध भावना को काटना तो दूर, वहाँ तक तर्क पहुंच भी नही सकता। बल्कि इस असमर्थता को स्वीकार करके वह पीछे हट जाता है।

पुराने खेत में नई जोत

एक वृद्ध ने मरते समय अपने लड़को से कहा कि, हमारे खेत मे धन गड़ा रक्खा है। उसके मर जाने के बाद लड़को ने सारा खेत खोद कर देखा। पर उस समय उन्हें कहीं भी धन न मिला। पर उस वर्ष फसल इतनी अच्छी आई कि उसके आगे यदि गड़ा हुआ धन भी मिल गया होता तो वह किसी गिनती मे न आता।

समाज मे मामूली लोग हमेशा विचार-क्षेत्र ऊपर ही ऊपर जोतते है, अतः सामाजिक जीवन भी प्राकृत और क्षीण रहता है। परन्तु जब जब कभी 'धीर' पुरुषो ने विचार-क्षेत्र को उस वृद्ध के लड़को के समान खूब गहरा खोदा है तब-तब बराबर विचार की फसल अपूर्व आई है। श्रीकृष्ण ने एक बार यह किया था, जिससे हिन्दू-विचार-सागर मे इतनी बाढ़ आई। बुद्ध भगवान् ने आत्म-प्रतीति के सिवा दूसरे किसी भी प्रमाण को मानने से इनकार किया उस-से आर्य-संस्कृति के ज्ञानाग्नि पर पड़ी हुई राख उड़ गई और आर्य-विचार राशि रूपी अग्नि प्रज्वलित हो उठी। फ्रान्स के डिडेरो और विश्वकोश के लेखको ने विचार क्षेत्र को जोत कर देख लिया कि मनुष्य-समाज का आधार किस तत्व पर है। और यूरोप मे क्रान्ति हो गई, जन-साधारण स्वतन्त्र हो गये। मार्टिन लूथर ने भी अपने समय की धर्म-व्यवस्था को आग मे रख दिया और फलतः

धर्म-कल्पना शुद्ध सुवर्ण रूप मे उसे प्राप्त हो गई।' इसी तरह मनुष्य जब-जब अन्ध-परम्परा को फेंक कर छोटे और बड़े प्रत्येक पदार्थ को 'कोऽस्मि। कस्मिस्त्वयि वीर्यम्'* ऐसा प्रश्न करने का साहस करता है तब धर्म-संस्कार होता है। राष्ट्र मे नवीन बल आता है, विद्वानो को नवीन दृष्टि मिलती है और इस दृष्टि का प्रभाव चौदहो विद्या और चौसठो कलाओ पर पड़ता है।

आज भारत मे इसी तरह की तत्व-जिज्ञासा, धर्म-जिज्ञासा और कर्म-जिज्ञासा सुलग उठी है। हम प्रत्येक वस्तु के रहस्य को खोजते है, जीवन का परम रहस्य नये सिरे से जान कर आचरण मे लाना चाहते हैं, नवीन समाज-व्यवस्था और नवीन आचार विचारो के द्वारा उन्हे समाज मे प्रविष्ट करना चाहते हैं, और इस नये प्राण को लेकर हम विचार संसार पर शुद्ध सात्विक दिग्विजय प्राप्त करना चाहते है। आज कृष्ण और शङ्कराचार्य, बुद्ध और महावीर, चैतन्य और नानक, और मेसाया तथा महादी सभी नवीन अवतार धारण करने वाले है, नया रूप धारण करने वाले है, सभव है वे एकरूप भी हो जायँ। यह भी संभव है कि प्रत्येक विभूति कई अनेक रूप धारण करे, क्योकि हम विचार-सागर का मंथन करने जा रहे है न।

---

* तू कोन है? और उस तुझ मे क्या बल है?

धर्म-संस्करण
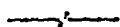
कितने ही लोग कहते है कि हमारा धर्म सब से पुराना है इसलिए वही सब से अच्छा है। दूसरे कहते हैं कि हमारा धर्म सब से आखिरी है अतएव सब से अधिक ताजा है। कोई कहते है कि अमुक पुस्तक आद्य धर्मग्रन्थ है इसलिए उसमे सब कुछ आ गया है। तो दूसरे कहते है कि फलां किताब परमात्मा का संसार को दिया हुआ सबसे आखिरी धर्म-ग्रन्थ है, इसलिए उसका उल्लङ्घन नही कर सकते।

सनातन-धर्मी दूसरी ही तरह से विचार करते है। सृष्टि का आदि और अन्त हो सकता है। धर्म-ग्रन्थो का भी आदि और अन्त हो सकता है। पर धर्म तो अनादि-अनन्त है। इस लिए वह सनातन कहा जाता है। सनातन के मानी क्या है? जो इस सृष्टि की शुरुआत के पहले था और जो उसके अन्त के बाद भी कायम रहेगा वही सनातन है। इस अर्थ के अनुसार तो आत्मा और परमात्मा ही सनातन माने जा सकते हैं।

पर सनातन का और भी एक अर्थ है। जो नित्यनूतन होता है वह स्वभावत ही सनातन है। जो जीर्ण होता है वह तो मर जाता है। जो बदलता नही वह सड़ जाता है। जिसको प्रगति नही है उसकी अधोगति बनी बनाई है। कुन्द हवा बदबू करता है। जो पानी बहता नही है वह स्वच्छ नही रहता। पहाड़ के पत्थर

बदले नहीं जाते इसलिए वे धीरे-धीरे चूर्ण हो जाते हैं। घास पुन" उगती है, वन की वनस्पतियां प्रति वर्ष मरती है और फिर दूसरे साल उगती हैं। बादल खाली होते हैं और फिर भरते हैं। प्रकृति को नित्य नूतन होने की कला अवगत हो गई है इसीलिए वह हमेशा नवयौवना दीखती है।

सनातन-धर्म के व्यवस्थापक इस सिद्धान्त को जानते थे इसीलिए युगधर्म के अनुसार उन्होने भिन्न भिन्न धर्मों की रचना की है। वे काल-माहात्म्य को जानते थे इसीलिए वे काल पर विजय प्राप्त कर सके। धर्म के आध्यात्मिक सिद्धान्त अचल और अटल हैं। पर उनका व्यवहार देश-काल के अनुसार बदलना होता है। इस बात को जानकर ही धर्मकारो ने हिन्दू धर्म की रचना में 'परिवर्तन-तत्व' शामिल कर दिया। इसी कारण यह धर्म सनातन पद प्राप्त कर सकता है। अनेक बार वह क्षीण-प्राण जरूर हुआ पर निष्प्राण कभी नहीं हुआ। मनुष्य की जड़ता के कारण कई बार उस मे गन्दगी भी फैल गई, पर बिना किसी विप्लव के वह फिर पुनरुज्जीवित हो उठा।

सामाजिक व्यवस्था अथवा धार्मिक विधियो के पालन मे कालानुकूल परिवर्तन होना आवश्यक है। पर जब से हिन्दू समाज मे अबुद्धि ने अपना अड्डा जमाया है तव से वह (हिन्दू समाज) ऐसे परिवर्तनो को शंकित दृष्टिसे देखने लग गई है। एक ऐसी भीति और नास्तिकता हमारे अन्दर घुस गई है कि हम हर समय कहने लग जाते हैं कि, "क्या पूर्वजो की अपेक्षा हम अधिक होशियार हो गये ? पूर्वज तो त्रिकाल का विचार कर सकते थे। उनकी रचना मे हम कही कोई परिवर्तन कर बैठेगे तो शायद हम

संकट मे पड़ जायंगे।" सच पूछा जाय तो इस तरह-परिवर्तन से डरना सनातन धर्म के स्वभाव के ही विपरीत है। विचार-हीन, उच्छृंखल परिवर्तन की तो हिमायत ही कौन करेगा ? पर अज्ञान के कारण डर कर निष्प्राण स्थिरता को खोजना पुरुषार्थ नहीं बल्कि मृत्यु ही है।

अपना छोड़कर दूसरे का ग्रहण करना यह एक जुदी बात है; और अपना तथा परकीय धर्म दोनो को जांच कर तुलना कर उस मे आवश्यक परिवर्तन करना यह एक भिन्न बात है। प्रत्येक जमाने मे नवीन-नवीन संयोग हमारे सामने उपस्थित कर परमात्मा हमारी बुद्धि शक्ति को आजमाने के लिए सामग्री उपस्थित करता रहता है और उसके द्वारा धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो का परिचय हममे पुन.-पुन' जाग्रत करता है। बाह्य आकार मे यदि बार-बार परिवर्तन न हो तो आन्तरिक सच्चे स्वरूप का दर्शन असम्भव हो जाय। यदि हमारे जमाने मे पूर्वजो की ही बुद्धि-हीन नकल हम करते चले जायं, कुछ भी नवीन न करे, कोई आविष्कार भी न करे, तब तो कहा जायगा कि हमारी शताब्दि वन्ध्या साबित हुई।

प्राचीन काल से ही हमारे देश मे भिन्न भिन्न धर्म और जातियां एकत्र रहती आई हैं। प्रत्येक बार ऐसे सहवास के कारण हमे भिन्न भिन्न धर्म प्रवचन करना पड़े है। आवश्यकतानुसार एक ही धर्म सिद्धान्त को भिन्न भिन्न शंकाओ और दोषों को दूर करने के लिए भिन्न भिन्न शब्दो मे जनता के सामने उपस्थित करना पड़ता है। और इसीलिए यह धर्म अनेक कोण वाले तेजस्वी रत्नों के समान अधिकाधिक दिव्य बनता गया।

परकीय सत्ता की अधीनता मे रहते समय धर्म को अत्यन्त

हीन और कृत्रिम वायुमण्डल मे दिन काटना पड़ते हैं। विरोधी लोग जिस समय-आक्रमण करते रहते हैं तब भी धर्म संस्करण का स्वाभाविक विकास नहीं होता। यही डर लगता रहता है कि हम कोई परिवर्तन करने जावे और उसी समय विरोधी लोग हमारी कमजोरी देखकर मर्माघात कर बैठे तब ? परकीय सत्ता स्वभावत' समभाव शून्य होती है। वह रूढ़ी को पहचानती है प्राण को नही। इसीलिए वह कहती है कि, "पूर्वापार से तुम्हारे जो रिवाज चले आये है उन्ही की रक्षा की जायगी।" नवीन प्रथायें तुम शुरू नही कर सकते। न अपने स्थान से कही भी इधर-उधर हट ही सकते हो। पुराने कलेवर को हमारा अभयदान है। तुम्हारे प्राण को राजमान्य कर दे तो हमारे प्राण कैसे टिके रहेंगे ? इस तरह समभाव शून्य तटस्थता मे सडी रूढ़ियाँ भी कानून की कृत्रिम सहायता से टिकी रहती है।

'हिन्दू-ला' पर अमल करते समय प्रति पद पर यही स्थिति विघ्न उपस्थित करती है। न्यायमूर्त्ति तेलंग ने इस स्थिति के खिलाफ कई बार अपनी अप्रसन्नता और घोर विरोध प्रकट किया था। प्रत्येक धर्म और समाज को अपनी व्यवस्था मे फेर-फार करने के अधिकार का होना तो बडा जरूरी है। पर यह करने के लिए आवश्यक स्वाधीनता, एकता और योजना-शक्ति का भी समाज में होना नितान्त आवश्यक है। बड़े से बडा त्याग करके हमे उसका विकास अपने अन्दर अवश्य ही करना चाहिए। यदि हिन्दू-धर्म को प्राणवान् बनाये रखना है, संसार मे उसे अपना स्वाभाविक स्थान पुन प्राप्त कर देना है, यदि उसे समाज कल्याणकारी वना लेना है तो धैर्य-पूर्वक हमे उसकी गंदगी को धो डालना चाहिए।

कितने ही ऐसे खयालात और रूढ़ियां हमारे समाज के अन्दर बद्धमूल हो गई हैं कि जो धर्म के सनातन सिद्धान्तो के विपरीत हैं और जो समाज की प्रगति मे बुरी तरह बाधक हो रही है। उन सब की हमें एकदम होली कर देना चाहिए।

अस्पृश्यता इन्ही बुराइयो मे से एक है। जातिगत अहंकार और संकुचित प्रेम दूसरी बुराई है। जहां रूढ़ी के नाम पर दया-धर्म का खून हो रहा हो, जहां आत्मा का अपमान हो रहा हो, जहां धर्म-प्रीति के बदले लालच और भीति को स्थान दिया जा रहा हो, वहाँ धर्म को इन बुराइयो के खिलाफ अपनी बुलन्द आवाज उठानी चाहिए। सरकारी अधिकारियो को रिश्वत देकर अपना मतलब गांठने वाले लोग एक परमात्मा को—ईश्वर को छोड़-कर उसके बदले अनेक भयानक शक्तियो को लालच दिखाना धर्म समझने लग गये। जो हुकमी, तामसी, सनकी और खुशामद-प्रिय अधिकारियों की अधीनता मे रह कर नामर्द बने हुए लोग देव-देवियो का स्वभाव भी उन्ही के जैसा समझ कर उनके प्रति भी भय-वृत्ति का विकास करने लगे, और इस तरह अपने धर्म मे अधर्म का साम्राज्य स्थापित किया। सत्यनारायण से लगा कर कालभैरव तक सभी देवताओ को हमने डरावने गुंडे (Bullies) बना रक्खा है। आकाशस्थ तारकायें, ग्रह, जंगल के वृक्ष और वनस्पतियाँ, हमारे भाई-बन्धु, पशु-पक्षी उषा और सन्ध्या, ऋतु और संवत्सर प्रत्येक स्थान पर जहां कि हमारे ऋषि उस परम मगल की प्रेममय विभूतियो का साक्षात्कार करते थे, उनके साथ आत्मीयता और एकता का अनुभव करते थे, वहां आज हमे भय, भय और सिवा भय के और कुछ दीखता ही नही। धर्म का शुद्ध

और उदात्त तत्व जानने वाले लोग हमारी विधि-विधानो के अन्दर रहने वाले काव्य को देख सकते है। परन्तु अज्ञ जन-समुदाय काव्य को सनातन सिद्धान्त अथवा वास्तविक स्थिति मान कर विचित्र अनुमान करते हैं और उन्ही को पकड़ बैठ कर धर्म का कार्य विफल कर डालते है।

आज हिन्दू-धर्म का उत्कर्ष चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का यही प्रथम कर्तव्य है कि वह इस बात का उद्योग करे कि उसके समाज मे धर्म का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो। जिसमे सत्य की निर्भयता नही, त्याग की अक्लमन्दी नही, उदारता की सुगन्ध नही, वहां धर्म हई नही– यह हमे निश्चित रूप से समझ लेना और लोगो को समझाना भी चाहिए। हिन्दू-धर्म के संस्करण का समय आ लगा है क्योकि उस पर जमी हुई गर्द उसका दम घोट देने को है।

क्या हिंसा स्वाभाविक है ?
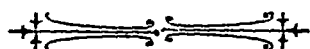
उन लोगो की बात जाने दीजिए जो वैर का बदला लेने के लिए हिसा का पक्ष करते है अथवा स्वभावतः ही हिसा मे आनन्द लेते है। तथापि ऐसे बहुतेरे लोग हमे मिलेंगे जिन्हे अहिंसा प्रिय होते हुए भी व्यवहार्य नही मालूम होती। वे कहते हैं.—यह ठीक है कि यदि अहिसा सीखी जा सके तो उस मे कुछ भी बुराई नही और यह भी ठीक है कि यदि अहिसा का पालन किया जा सके, तो हमारा राजनैतिक ध्येय भी हमे आसानी से और जल्दी मिल सकता है। पर सवाल यह है कि इतनी अहिंसा किस तरह उत्पन्न हो सकती है ? यह हम नही समझ सकते। सरकार हिसावादी है। जब तक वह स्वराज्य देना स्वीकार नहीं कर लेती तब तक तो उसे हिसा ही पर अवलम्बित रहना पड़ेगा। अपने पशुबल द्वारा एक निश्शस्त्र राष्ट्र को दबाने के लिए सरकार के पास असीमशक्ति है। इधर हम ताजे अनुभव के आधार पर कह सकते है कि सरकार की नीति इस विषय में कही सुधर गई हो सो भी नही। ऐसी स्थिति मे अत्याचारो को सहते सहते यदि प्रजा आकुल हो उठे और कुछ हिसाकांड कर बैठे तो उसमे कौन अस्वाभाविक बात है ? हम ज़रूर मानते हैं कि किसी भी परिस्थिति मे उपद्रव कर बैठना बुरा है परन्तु ऐसी वृत्ति कर लेना हमे तो यह असम्भव प्रतीत होता है कि हम से कभी हिसा हो ही नहीं।

इस तरह के शङ्काशील लोगो की शङ्का प्रामाणिक होती है। उस पर पूरा पूरा विचार अवश्य ही करना चाहिए। ऐसे लोग मनुष्य-स्वभाव का एकाङ्गी दर्शन ही किये होते हैं, भूतकाल के अनुभव पर वे अधिक भार रखते हैं और उसमे भी वे एक ही तरह के अनुभव की जाँच करते हैं। वे यह तो जरूर मानते हैं कि अहिंसा का नियम योग्य है। परन्तु जितनी चाहिए उतनी यह शिक्षा उनकी ठीक ठीक समझ मे नहीं आती कि जो योग्य है वह शक्य होनी भी अवश्य चाहिये, उन्हे यह डर बना रहता है कि जन-साधारण का स्वभाव जैसा आज है वैसा ही आगे रहेगा, बल्कि उन्हे इसका निश्चय होता है। मनुष्य की इस बात पर से श्रद्धा उठ गई है कि शास्त्रीय, बौद्धिक और भौतिक शिक्षा के इन दिनो में प्रयत्न करने पर मनुष्य की नैतिक उन्नति भी हो सकती है। यह आम तौर पर ख्याल फैला हुआ है। हरएक मनुष्य अपना स्वार्थ खोजेहीगा और स्वार्थ के लिए जितनी हिंसा करनी पड़ेगी उतनी हिसा भी बिना किये वह नहीं रहेगा। कहा जाता है कि, यह मनुष्य मानव-प्रकृति है। परन्तु वास्तव मे वह प्रकृति नही, विकृति है।

स्वार्थ और हिसा ही यदि मनुष्य की प्रकृति होती तो समाज कभी का रसातल को चला गया होता, आज कोई न बच पाता— न जालिम न गुलाम।

कहावत है कि यह उचित नही कि एक मनुष्य ने गो-वध किया तो दूसरा भी बछिया को मारे, यह कहावत असाधारण कोटि के महात्माओ के लिए नही है। कोई हिन्दू स्वार्थ के लिए कसाई का काम न करेगा, न गो-मांस का विक्रय ही करेगा।

मुसलमान भी स्वार्थ के लिए कोई ऐसा काम न करेगा जो उसके दीन से विरुद्ध होगा। यही बात सब के लिए कही जा सकती है। एक भाई यह नही चाहता कि दूसरे भाई को फॉसी की सजा हो, न वह उसके विरुद्ध ऐसी गवाही ही देता। ससार का संपूर्ण व्यवहार क्षमा ही से चलता है। यदि हरएक अपराधी को सजा ही देने बैठे तो संसार मे दो-चार मनुष्य भी रहने पावेगे या नही, यह प्रश्न है। उपद्रव करना अथवा हिसा करना यह हमारे अज्ञान का सूचक है। यह हमारी बिगड़ी हुई स्थिति का चिह्न है। हिसा इसलिए कभी स्वाभाविक नही सिद्ध हो सकती कि हम बिगड़े हुवो या अज्ञानियो की संख्या समाज मे ज्यादा है।

यदि मनुष्य शुद्ध स्वार्थ को ही जान जाय तो भी वह आज जितनी हिसा सीखता है उससे कम हिसा करने लगे। कई वार मनुष्य विकार-वश अपने स्वार्थ की हानि करके भी हिसा करने लग जाता है। आज जिन्हे सुधरे हुए राष्ट्र कहा जाता है उनमें इतना संयम तो होता है कि जहॉ हिसा न करने मे स्वार्थ हो, वहॉ वे विकार को दवा कर हिसा को रोक सकते है। स्वराज्य का उपभोग करने वाले हरएक राष्ट्र मे इतनी शक्ति तो अवश्य होती है। विकार-वश वे ही होते है जो जङ्गली है, जो स्वराज्य के वातावरण को भूल गये है, या जिनमे स्वराज्य प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा ही नही रही।

दो सुधरे हुए राष्ट्रो के वीच हदद‌र्जे का वैर उत्पन्न होने पर भी, वल्कि उनमे युद्ध छिड़ जाने पर भी, शत्रु-पक्ष के राजदूतो की रक्षा तो जरूर की जाती है। देश मे दो पक्ष पड़ कर भीतर ही भीतर जब यादव-स्थली मच जाती है, जब मनुष्य पागल होकर

इतना खून-खच्चर करने मे अपने आपको भूल जाते हैं तब भी उनमें इतना संयम तो बच रहता है कि वे विदेशी राजदूतो को सुरक्षित रक्खें। इससे यह स्पष्ट है कि, क्रोध और निराशा की स्थिति मे भी संयम रखना अशक्य नहीं है। तो आज जब महासभा एक व्यावहारिक नीति की तरह अहिंसा को स्वीकार करने का उपदेश राष्ट्र को दे रही है, तब महासभा उससे उसी सयम की आशा करती है जो अनेक देशो की साधारण जनता मे प्राय पाया जाता है। यदि मनुष्यों मे उससे अधिक श्रद्धा आ जाय तो यह तो अभीष्ट ही है। परन्तु स्वराज्य भोगने वाले अन्य राष्ट्रो के जितना संयम तो कम से कम हमारे अन्दर अवश्य ही होना चाहिए।

हां, कोई कह सकता है कि, दूसरे देश के मनुष्य हम लोगों के समान निराश नहीं होते, इसलिए वे संयम का पालन कर सकते है। पर उसका यही उत्तर है कि, हमे अपने अन्दर स्वराज्य विषयक श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिए। अग्रगण्य लोग अहिंसा का उपदेश करके ही देश मे स्वराज्य के लिए आस्था उत्पन्न कर सकते है और यदि वे जनता में अहिंसा के प्रति धार्मिक श्रद्धा उत्पन्न कर सकें तो हम शांति से—अर्थात् अपनी ओर से शांति रखते हुए स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, यही नहीं वरन् ससार मे शाश्वती शांति स्थापित होने का उसे विश्वास भी दिला सकेंगे।

कला, जीवन और तत्वज्ञान

सामान्यत. तत्वज्ञान नीरस विषय समझा जाता है, और कला रसमयी, नहीं रसरूप समझी जाती है। आज समाज मे दोनो के प्रति अ-भाव है, क्योकि समाज मे दोनो का अभाव है। सच पूछिए तो प्रत्येक कला का आधार तत्वज्ञान होता है। तत्वज्ञान जब जीवन मे प्रवेश करता है तब वह जीवन के आनन्द के साथ मिल कर कला का रूप धारण कर लेता है। जिस तरह सुन्दर गायन का आधार भावगम्य छन्द और ताल-बद्धता होती है उसी तरह कला का आधार तत्वज्ञान होता है। भिन्न भिन्न समाजो मे भिन्न भिन्न कला होती है। इसका कारण उस समय समाज के जीवन का आदर्श अथवा पुरुषार्थ की कल्पना की भिन्नता ही है। इसी से हमारे देश मे धर्म-भेद के अनुसार तान्त्रिक, वैष्णव, शैव, जैन, बौद्ध और इस्लामी आदि कलाये भिन्न भिन्न रीति से प्रकट हुई है। धर्म-भेद क्रमश. होता है इसीलिए कला मे भी परिवर्त्तन धीरे धीरे होता है। एकेश्वरवादी ख्रिस्ती धर्म ने ग्रीक लोगो के अनेक देव-देवताओ का त्याग किया, पर यूरोप की प्रजा इतना परिवर्त्तन एकदम कैसे सहन कर सकती थी ? प्रजा ने देवी-देवताओ के स्थान मे ख्रिस्ती सन्तो को बैठा दिया और उपासना की बहुविधता की अभिलाषा को तृप्त करने का मार्ग खोज लिया और इस

तरह ग्रीक कला मे जो कल्पना-समृद्धि थी उसकी रक्षा कर ली। हमारे यहाँ भी अशोक के समय की कारीगरी यही सूचित करती है कि, अशोक के पहले काष्ठ-स्थापत्य बहुत ही लोकप्रिय था और पत्थर जैसे पदार्थ मे भी काष्ठ-स्थापत्य की मर्यादाओ की रक्षा करने मे उस समय के कारीगरो ने आनन्द माना था। अजन्ता की कारीगरी पर भी काष्ठ-स्थापत्य का पूरा पूरा प्रभाव दीखता है।

जब जीवन मे परिवर्तन होता है तब स्थापत्य मे, शिल्प मे, यही नही किन्तु नगर-रचना मे भी परिवर्त्तन होता है। आश्चर्य की बात है कि अहमदाबाद की * पोलो से गुजरात के समाज की वृत्ति कितनी स्पष्ट होती है इस ओर किसी का ध्यान कैसे नही गया। वह प्रजा जो लडने का ज़रा भी शौक नहीं रखती, तथापि आत्म-संरक्षण के लिए राजा पर बहुत विश्वास भी नही करती, जो धन कमा सकती है और उसका उपयोग करना भी जानती है, जो राज-शासन के झगडे मे तो नही पडती तथापि महाजनो के द्वारा समाज-शासन अत्यन्त सुधरी हुई पद्धति से कर सकती है, भला वह प्रजा अशान्ति के दिनो मे किसी दूसरी तरह नगर-रचना कर सकती थी ? इससे विरुद्ध पाटन की नगर-रचना देखिए। इसका कारण यह नही कि पाटन की संस्कृति भिन्न है।। बात यह है कि असली पाटन तो इस समय रहा ही नही। वर्त्तमान पाटन शहर भिन्न राजकीय परिस्थिति मे बँधा होगा।

---

* पोल=मुहल्ला, गली या सडक जिसके दोनों सिरे पर दरवाजे हों।
—अनु०।

मामूली मंदिरो मे भी जीवन के विकास को हम देख सकते है । एकांत मे ध्यान-मग्न रहने वाले निवृत्ति-प्रिय शिव-उपासकों ने गुफाओ के प्रति नमूने स्वरूप छोटे मंदिर बाँधने की प्रथा आरभ की । आज उन्हे गर्भ-गृह कहते है । प्रवृत्ति-प्रिय वैष्णवो ने जब सामुदायिक भक्ति-मार्ग शुरू किया तब इन गर्भ-गृहो के सन्मुख सभा-मण्डप की आवश्यकता मालूम हुई । इन दोनो के बीच का अन्तराल प्रदेश, जो ईट-पत्थरो से ढक दिया गया, उसका नाम अन्तराल ही रक्खा गया । इस तरह मन्दिर मे तीन विभाग हुए; गर्भ-गृह, अन्तराल और सभा मण्डप। इन तीन विभागो का प्रतिबिम्ब राजप्रासाद मे भी पड़ा । वहाँ भी जो हुकुमी सुलतान का सलाह-खाना मन्त्र गृह, मन्त्री-परिवेष्टित राजा का दीवानेखास और प्रजानुरंजक बादशाह का दीवानेआम तैयार हुए । जहां राजा था ही नही ऐसे हिमालय के गण-राज्यो मे न मन्त्र-गृह है और न दीवाने-आम । वहाँ तो गाँव के पास टीलो पर बडे-बड़े पत्थरो का एक चौतरा बाँधा जाता था । उसी पर बैठ कर वृद्ध जन स्वराज्य-संरक्षण का विचार करते थे । आज हम एक विराट् राष्ट्र बन गये है । आज की हमारी मन्त्रणा-सभा दीवानेआम में भी नही मा सकती। अब तो ऐसी रग सभा बनानी पड़ेगी जिसके भीतर राष्ट्रीय महासभा बैठ सके । जहाँ-जहाँ लोक-प्राधान्य हो वहाँ वहाँ ग्रीक-संस्कृति का कुछ अनुकरण तो करना ही पड़ता है । इसीसे हमने वक्तृत्व-कला का विकास किया है । हमे अपनी रंग-सभा भी ग्रीक लोगो के ऐम्फी थियेटर के समान बनानी पड़ेगी । हां, पर रंग सभा ऐसी ही होनी चाहिए जो भारत की उपवन-संस्कृति की शोभा दे । ईट और पत्थरो की अपेक्षा वृक्षो

पर हिंदी संस्कृति अधिक निर्भर है। इसलिए ऍम्फी थिएटर अथवा रंग-सभा का विभाग अर्ध-वर्तुलाकार कतारो मे वृत्त बोकर ही करना पड़ेगा। सभा इकट्ठी होने का समय भर मध्याह्न हो तो इन वृत्तो मे खादी की छत बाँधी जा सकती है। यहीं रंग-सभा सर्वदा के लिए ग्राम-देवता के मन्दिर के तौर पर गिनी जायगी, जिससे ग्रामवासी भी अनायास इसकी मरम्मत करते रहेगे। इस मन्दिर के पास हिदू-मुसलमानो की एकता का सूचक एक तालाब अवश्य हो।

इस तरह हम देखते है कि सामाजिक जीवन और सामाजिक कला का त्रिकालाबाधित सम्बन्ध है। उस पर से हम यह भी देख सके है कि, जैसा जीवन होगा वैसी ही कला भी होगी। अब यह देखना है कि, किस तरह हम तत्वज्ञान के सामाजिक पुरुषार्थ के आदर्श को और तदनुसार अपनी रहन-सहन को और अंत मे रहन-सहन के अनुसार कला को बना सकते हैं। इस दृष्टि से अब हम ऊपर बतलाई हुई मन्दिर की रचना को जॉचे। मन्दिर के तीन विभाग क्यो नही किये, दो ही विभाग क्यो रहे ? यह प्रश्न रहस्यपूर्ण है। मन्दिरो मे तीन प्रकार के उपासक जाते हैं। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' इस तल्लीनता से गर्भ-गृह मे बैठ कर पूजा-अर्चा करने वाला एक गण, देव-दर्शन के बहाने मन्दिर मे एकत्र होकर पुराण-श्रवण, कथा-कीर्तन और धर्म-विवरण करने वाला सभा-मण्डपस्थ दूसरा गण, इन दोनो समुदायो के साथ समभाव रखने वाला, ध्यान अथवा जप इन्ही को श्रेष्ठ साधना मानने वाला एक मध्यस्थ गण भी होता है। वह इस-अन्तराल मे बैठता है। इस व्यवस्था का कारण हमें अपने

तत्वज्ञान मे मिल जायगा। हमारा तत्वज्ञान आत्मपरायण है। दर्शनकारो ने आत्मा के तीन विभाग किये है, वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। वहिरात्मा अपने को इस वाह्य-सृष्टि से संलग्न और अभिन्न मानता है। अन्तरात्मा देहधारी होते हुए भी देह से अपने को भिन्न समझता है। और परमात्मा को तो देह-भान ही नही होता। मनुष्य की ये तीन दशाये है; और इन तीन दशाओ के अनुसार वह पहले जीवन-मन्दिर के सभा-मण्डप मे बैठता है, उसके बाद अन्तराल मे बैठ कर आत्मदेव का दर्शन किया करता है, और फिर उस साधना के पूरी होने पर गर्भ-गृह मे प्रवेश करके अभेद-भक्ति मे विलीन होता है। समाज मे कला की प्रगति भी इन तीन दशाओ मे होती है। सृष्टि-संलग्न दशा मे कला वहिर्मुखी और सृष्टि की उपासक होती है। उसे यथार्थ-दर्शी (Realistic) कहते है। सृष्टि कामरूपिणी होती है, उसकी विविधता अनन्त है, इससे उसकी उपासना का अन्त शीघ्र नही आता। एक रूप मे थके तो दूसरा रूप आपके सम्मुख खड़ा होता है। आप ज्यो-ज्यो सृष्टि के पाश मे पकड़े जाते है त्यो-त्यो आप को आभास होता है कि आप की शक्ति बढ गई है। जिस समय प्रभुता का मद चरम सीमा को पहुँच जाता है उस समय वस्तुत. मनुष्य सृष्टि का दासानुदास हो जाता है। परन्तु ईश्वर की सृष्टि मे चिर-पतित कोई हुई नही। आत्मतत्व अमर है। और इसी से माया के पाश अपने ही भार से अन्त मे गिर जाते है, तव मनुष्य को स्फूर्ति होती है कि, नियतिकृत *

* ब्रह्मदेव की निर्माण की हुई सृष्टि के बाह्य नियम की मर्यादा से मुक्त।

नियम-रहिता, ल्हादैकमयी,* अनन्य परतन्त्र,† नवरस-रुचिरा भावगम्य सृष्टि हम क्यो न निर्माण करे ?

यह बाह्य सृष्टि अपने सुवर्णमय ढक्कन से रसरूप परमात्मा को ढाँके रखती है। इससे यथार्थ-दर्शी कला में सुख के साथ विषाद संमिश्रित होता है। उसके आनन्द से समाधान के बदले वासना-ज्वर जागृत होता है। प्रवृत्ति का प्रवाह चाहे कितना ही रमणीय हो, वह है अधोगामी और अन्त मे विषादमय ही।

इतना अनुभव हो जाने पर उपासक आत्माभिमुख हो जाता है। वह इन्द्रियजन्य रस को छोड कर भावात्मक आनन्द प्राप्त करने लगता है। उस आनन्द को प्रकट करने के साधन पार्थिव और इन्द्रिय-गोचर भले ही हो, तो भी उनके द्वारा व्यक्त करने का भाव इन्द्रियातीत ही होता है, और इसलिए उनके द्वारा प्राप्त होनेवाला आनन्द शुद्ध, निष्कलङ्क और स्थायी होता है। वह आनन्द शम-प्रधान होता है। वहाँ विलासिता का नाम तक नही होता। उस आनन्द में प्रवेश करने के बाद मनुष्य 'विगलितवेद्यांतर' हो जाता है। इस कला को आदर्शदर्शी (Idealistic) कहते हैं, क्योकि इस कला के आदर्श मे आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। भारतवर्ष मे इस आदर्श-दर्शी कला का ही प्राधान्य था। यहाँ यथार्थदर्शी कला थी ही नही सो नही। मयासुर की कला यथार्थदर्शी थी। पर विश्वकर्मा की कला आदर्शदर्शी थी। यहाँ तो विश्वकर्मा ही की कला लोकमान्य हुई। कदा-

* सुख-दु:खात्मक नहीं, परन्तु शुद्ध आनन्द रूप।

† स्वतन्त्र, जो दूसरे पर आधार न रक्खे।

चिन् मयासुर की कला चीन देश से आने के कारण यहाँ न ठहरी हो, अथवा वह कला हमारी धार्मिक भावनाओ की पोषक न होने के कारण शायद लोगो के द्वारा वह उपेक्षित की गई । यह आदर्श-परायणता चित्रकला और सङ्गीत के अनुसार स्थापत्य में भी है, पूजा-अर्चा और जीवन-संस्कारो मे भी है ? साहित्य और रीति-रिवाजो मे भी है । इसमे कला का उत्कर्ष है, परन्तु वह पराकाष्ठा नही । काष्ठा और परागति तो आत्म-प्राप्ति ही है । आत्म-प्राप्ति मे मनुष्य कलातीत होता है । रवीन्द्रनाथ टागोर के 'राजा' ('राजा' नाटक) के अनुसार आत्मा न सुन्दर होता है, न कुरूप । वह तो सत्यरूप होता है । इसलिए जीव-रानी को यदि उसके साथ रममाण होना है तो उसे भी कलातीत हो जाना चाहिए । यही अभेद-भक्ति है, यही गर्भ-गृह मे प्रवेश है, यही सायुज्य मुक्ति है । इसका न वर्णन हो सकता है, न सूचना दी जा सकती । वह शब्दातीत है, वह अवर्णनीय है, वह निष्कल परब्रह्म है । आदर्शदर्शी कला हमें उस तरफ ले जाती है, उसका स्मरण कराती है, उसकी झाँकी देती है, उस तरफ जाने के लिए शक्तिमान् बनाती है । इसीलिए उस कला की उपासना प्रत्यक्ष परब्रह्म प्राप्ति की साधना है । इसीसे पुराने शास्त्रकारो ने कहा है कि नादोपासना से ब्रह्म-प्राप्ति होती है । कला की सम्यक् उपासना द्वारा मनुष्य कलातीत होता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

इस कला की उपासना योग से होती है । नाक पकड़ कर श्वास को रोकना ही योग नही कहलाता । योग का अर्थ है समत्व । योग अर्थात् वासनाराहित्य, योग अर्थात् निर्विकारता, योग अर्थात् संयम । योग-अर्थात् ध्यान । योग अर्थात् तदाकारता ।

इस योग का साधक ही आर्य-कला के रहस्य को समझ सकता है, उसका पुनरुज्जीवन कर सकता है, उसमे नवीन प्राण फूँक सकता है और उसके द्वारा समाज मे नूतन युग उत्पन्न कर सकता है। कला का उदय भीतर से होना चाहिए। इसलिए आज कलाधरो को तपस्या-पूर्वक ध्यान करना चाहिए। हमे स्मरण रखना चाहिए कि हमारा शरीर, समय और स्फूर्ति विलास के लिए अथवा विलासी जनो को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं, वरन् अपनी कला द्वारा जनार्दन की सेवा करने के लिए है।

जीवन-कला ×

सौभाग्य वश मुझे कला का भान बड़ी देर से हुआ। बचपन मे या बड़े होने पर भी मैने पढ़ाई को अपने जीवन-विकास के मार्ग में आने ही नही दिया। अर्थात् ठेठ बाल्यावस्था से ही मै प्रकृति की गोद में पला हूँ। प्रवास तो मेरी बाल्यावस्था का आनन्द का विषय। सो भी मैंने पार्सल की तरह रेल के डिब्बे मे बैठ कर प्रवास नही किया, बल्कि बैल गाड़ी पर मैं दर कूच दर मंजिल प्रवास करता जाता। लड़के या बड़ों के साथ मै विशेष पढ़ता भी नहीं था। पशु-पक्षी और फूल-पत्तियों से ही मेरी मित्रता थी। पर्वत निर्झरो के पास बैठ कर उनसे अर्थ विहीन बाते करना भी मै सीख गया था। थोड़े ही दिनो मे मैंने देखा कि पाठशाला के कई विद्यार्थियो ने अरुणोदय की शोभा को भी नही देखा था। रात को देर से जब तस्तरी का सा चंद्र अस्त होता है, तब उसके उस मजेदार दृश्य का तो उन्हे ख्याल भी कैसे हो सकता है? एक दिन हम सावंतवाड़ी के रास्ते पर सफर कर रहे थे। चंद्र अस्ताचल को जा रहा था। रात के करीब दो का अंदाज था। गाड़ी मे लेटे लेटे मै चंद्र को देख रहा था। चंद्र ठेठ क्षितिज पर आया और उस पर लाल स्याही फिर गई। समस्त प्रकृति शोक मग्ना जान पड़ने लगी। प्रकृति मे सौंदर्य के

× सूरत के 'युवक सप्ताह' के उपलक्ष्य मे भेजा हुआ निबन्ध।

साथ साथ भावनाये भी होती है यह प्रभाव दस साल के मेरे बाल हृदय पर उस दिन पहले पहल पड़ा। तथापि कला का भान नहीं जागा था। घर मे और मंदिरो मे धार्मिक संस्कार, विधियां, त्यौहारो की आयोजनाये और उत्सव आदि का प्रभाव बाल्यावस्था से ही पड़ रहा था। मै तीन तीन घंटे बैठ कर घर मे देव-पूजा किया करता। इसलिए मूर्तियो की नित्य नवीन रचना, रगे विरगे फूलो और तुलसी दल तथा दूर्वा, बिल्व-दल आदि की शोभा देखने की आदत और आनद मुझे एक साथ प्राप्त होते। प्रत्येक प्रान्त के भिन्न भिन्न तरह के वर्तन, पोशाक, रहन-सहन और गृह-रचना देख-देखकर उनके बाह्याभ्यंतर भेद और साम्य की ओर मेरा ध्यान अपने आप आकर्षित होता। देशी राजाओ की राजधानियां भी वार बार देखने का अवसर प्राप्त होने के कारण दरबारी ठाट-बाट, गायन, नाच, राजप्रासाद, वहा का शिष्टाचार यह सब देखने का मौका मिलता। तरंगी मन इन बातो पर अनेक तरह के विचार कर कल्पनाये बांधता।

तथापि अभी तक मुझे कला का भान नही हुआ था। कला-रसिकता अब तक मुग्ध थी। इसलिए उसके शुभ संस्कार मिलते जाते थे पर उसके उन्माद का स्पर्श तक भी अभी मुझे नही हो पाया था। इसलिए मेरा ख्याल है कि बच्चो को भक्तिपूत कला का वायु-मडल जरूर मिलना चाहिए। पर भान पूर्वक कला का सेवन तो उनके लिए कदापि अच्छा नही है।

शिक्षा समाप्त कर लेने पर जब मै जीवन के अंग-प्रत्यगो पर मनन करने लगा तभी मुझे कला का भान हुआ, उसका महत्व समझा। भोग-विलास मे मग्न रहने वालो का जीवन कितना हीन

निद्य और उच्छृंखल होता है इसका ज्ञान मुझे पहले से ही था। इसलिए कला के सच्चे स्वरूप को जानने मे मुझे विलम्ब न लगा। इतनी पूर्व-तैयारी के बाद कला पर कई प्रमाणिक ग्रन्थों के पढ़ते समय मुझे कोई कठिनाई या शंका नहीं हुई।

कला का विवेचन शुरू करने के पहले उपर्युक्त अनुभव का सार कह दूं। जीवन की पूर्व दशा मे पहले पहल सद्गुणो का विकास कर उन्हे दृढ़ करना चाहिए। और सदाचार की महत्ता तथा दुराचार की हीनता हृदय पर शिला लेख की भांति अंकित हो जानी चाहिए। इतना हो जाने पर ही कहा जा सकता है कि कला की दीक्षा लेने की पूर्व-तैयारी हो गई। जिस प्रकार यौवन चारो पुरुषार्थों का उत्तम काल है उसी प्रकार अनन्त प्रमादो का उद्गम स्थान भी वही है। यौवन के पास सब कुछ है, केवल जीवन नौका का प्रेरक कर्ण नही। यदि धर्म-संस्कार और सदाचार से यह कर्ण प्राप्त न हो सके तो उसे वह कला से कदापि नही प्राप्त हो सकता। एक बार मनुष्य के जीवन मे धर्म प्रतिष्ठित हुआ कि उसे सब कुछ मिल गया। धर्म-वीर्य के साथ मनुष्य चाहे जिस क्षेत्र मे या विषय में गहराई के साथ, प्रवेश कर सकता है, और उस क्षेत्र या विषय के यथार्थ रहस्य को प्राप्त कर सकता है। जीवन समस्त मे प्रत्येक वस्तु को निर्मल दृष्टि से देख वह उसके स्थान, प्रयोजन और विनियोग को निश्चित कर सकता है।

धर्म अर्थात् श्रद्धायुक्त सदाचार के आधार पर जिस कला की रचना होती है वह रस-गभीर, प्राण-पोषक और अनंतवीर्य होती है। कला पर जिस सदाचार की रचना की जाती है वह प्राय: ऊपरी शिष्टाचार ही होता है। जिस तरह सड़े हुए फर्श पर

रंगीन कागज लपेट कर उसे सुंदर दिखाने का प्रयत्न किया जाता है उसी प्रकार अ-संस्कारी अं-सयत जीवन पर नागरिकता का आडम्बर रचकर जीवन सदाचारी बताया जा सकता है। कला के द्वारा विकसित सदाचार को तो हलकी धातु पर चढ़ाई हुई कलई ही समझिए। जब से धर्म अप्रतिष्ठ हुआ है तब से सुधार एक तरह का 'वैनीर' बन गया है। वेनीर के मानी हैं हल की जाति की लकड़ी पर चढ़ाया हुआ शीशम अथवा महागनी जैसे लकड़ी का आवरण। यदि हम मांसाहार को सदाचार के विपरीत मानते हैं, तो इसका कारण हमे धर्म से प्राप्त होना चाहिए, कला से नहीं। मांसाहार मे क्रूरता है, पाप है, हृदय-धर्म का द्रोह है। इस भावना से जब मांसाहार का त्याग किया जाता है तो वह स्थिर होता है, बलप्रद होता है। कितने ही कवि और कलाकार कहते है कि हम मांसाहार इसलिए नही करते कि मांसाहार हमारी सौंदर्य की कल्पना को आघात पहुंचाता है। इसलिए हम निरामिष भोजी है। ऐसे लोगो के निरामिष भोजन मे व्रत की दृढ़ता नही होती। कभी कभी वे मांस का सेवन कर भी ले। कला के हिमायती कला का केवल सेवन कर सकते है पूजा नही। पूजन की वृत्ति का उदय धर्म से ही होता है। बिना स्वार्थ और अहंकार को मारे पूजा हो ही नही सकती।

जीवन विषयक कल्पना जब तक स्थिर नहीं हो जाती तब तक हमे इस बात का ख्याल भी नही हो सकता कि कला क्या वस्तु है। पशु के समान ही मनुष्य मे भी भोगवृत्ति है, स्वामित्व-बुद्धि है, आलस्य है, उतार मे फिसलने का आनन्द भी है। पर मनुष्य बुद्धिवान्, प्राणी है। इसलिए वह इन वृत्तियो को व्यव-

स्थितरूप दे देता है। शब्द जाल फैलाकर वह पशु जीवन को भी रसमय या यथार्थ बता सकता है। यह अनुभव तो बाद में मिलता है कि भोगमय जीवन न तो रसमय हो सकता है, और न यथार्थ। एक के अनुभव से मिली हुई मुफ्त की होशियारी लेने से जब तक दूसरे इन्कार करते रहेंगे तब तक भोग की फिला-सफी और उस पर रचा हुआ सौंदर्यशास्त्र इसी तरह चलते रहेंगे।

सब से पहले यह तय करना चाहिए कि सफल जीवन किसे कहते है। किस प्रकार जीवन व्यतीत करने से हम निष्प्राण नहीं होंगे, हीन न होंगे, विनाश-मार्ग के पथिक न बनेंगे। इसके बाद इस मंगल-जीवन के अनुकूल कला का विकास अपने अंदर करना चाहिए। इन्द्रियों का अपने अपने विषयो की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है। यदि इस आकर्षत्त को ही कोई कलावृत्ति मान ले, इसीको यदि कोई रसिकता का नाम दे दे तब तो कहना होगा उसने अपना आत्मघात ही कर लिया। और कला का भी अपमान किया। कला का आनन्द विषयातीत होना चाहिए।

कितने ही बैरागी इंद्रियो मे परिपूर्ण अविश्वास रखते है। वे कहते है—"इन्द्रियो को स्वाधीनता यदि दे दी जाय तो वे तो अपने विषयो की ओर अवश्य दौड़ेगी, और यह नि संदेह सिद्ध है कि विषयो का सेवन ही आध्यात्मिक मृत्यु है। इन्द्रियो की प्रवृत्ति शुभ तो हरगिज़ नही और न वह एकदम वंद ही हो सकती है। यदि एकदम उसे बंद करने जाते हैं तो बलवान् इन्द्रिय-ग्राम कोई न कोई विकृति खड़ी कर देता है। इसलिए युक्ति-प्रयुक्ति द्वारा, मधुरता पर साथ ही दृढ़ता के साथ इंद्रियो को विषय-पराङ्मुख करने मे ही हमारा सच्चा पुरुषार्थ है।"

कला के उपासकों की दृष्टि इससे कुछ भिन्न है। वे कहते हैं कि "इन्द्रियों को विषय-सेवन करने के लिए स्वाधीनता दे दी जाय तो वे बात की बात मे जीवन की तमाम सुन्दरता को नष्ट-भ्रष्ट कर देगी। विषय-सेवन मे सुन्दरता हई नहीं । सुन्दरता, कला, काव्य ये सब इन्द्रियातीत वस्तुये है । इनका आनन्द सच पूछा जाय तो इन्द्रिय-निरपेक्ष है इसलिए शुद्ध सात्विक है। इस आनन्द के सेवन मे इन्द्रियों की सहायता की जा सकती है । यही केवल हमारा कथन है। यह कोई बात नही कि इन्द्रियों की सभी प्रवृत्तियां अध पात की ओर ले जाती है। हृदय की एक खास तरह से शुद्धि कर लेने पर इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा सौंदर्य का आकलन किया जा सकता है। एक ही युवती को पति और पिता जिस तरह भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते है उसी प्रकार विषयी पुरुष और कलारसिक भी एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देख सकते है। हम इस बात को कुबूल करते हैं कि पिता की दृष्टि की निर्मलता दुर्लभ है। इस बात को भी हम स्वीकार करते हैं कि आज कल अपने को कलारसिक कहलाने वाले कितने ही लोग विषयी या विलासी ही होते है। हम जानते है कि हमारी जाति मे इन बाहरी लोगों की संख्या ही बहुत बढ गई है। अत ज्ञान-शुद्धि का प्रयत्न हमे करना चाहिए—सबको करना चाहिए। पर इस जाति का अंत तो कैसे किया जा सकता है ?

प्राय सभी कलापूजक इस बात को जानते है कि कला पूजन मे सभी इन्द्रियां एक सी योगता नही रखती। स्पर्शेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय इतनी उन्माद कारी और असंयत होती हैं कि कला-पूजन मे हम उनकी सहायता ले ही नही सकते। गंध भी स्पर्श

सुख ही है। इसलिए गंधग्राही इन्द्रियो को भी कला-पूजन-इन्द्रियो मे स्थान मिलना शंकास्पद है। अब शेष रही दो ज्ञानेन्द्रियाँ, श्रवण और नयन। इन दोनो की विलासिता को संयत कर इन्हे कलाग्रह की दीक्षा दी जा सकती है।

पर कला का सच्चा आनन्द शब्द या रूप के आस्वाद में नही है। कला निर्दोष सृष्टि निर्माण करने ही मे आनन्द मानती है। अर्थात् हाथ और कंठ की सहायता से ही कला की श्रेष्ठ से श्रेष्ठ उपासना हो सकती है। कण्ठ से स्वर्गीय संगीत ध्वनि निकालने का आनंद कला का प्रधान आनन्द है। पर जब तक उसकी जांच नहीं कर लेते, श्रवण द्वारा अनुरजक शक्ति का तथा भावनाओ को उद्दीपित करने के सामर्थ्य की जांच नही हो जाती तब तक सगीत से आनन्द मिल ही नही सकता। संगीत का आनन्द अन्ततोगत्वा इन्द्रियों से परे तो है ही पर वह श्रवण और कण्ठ की सहायता से ही जागृत हो सकता है।

सच देखा जाय तो प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा कला का आनन्द प्राप्त हो सकता है। पर उसे पहचानने की मनुष्य को शक्ति हो तब। कितनी ही इन्द्रियो का संयम करने ही से एक असाधारण और निर्विषय आनन्द प्राप्त किया जा सकता है। यह मनुष्य जाति का दुर्दैव है कि उसने इस आनन्द का बहुत कम अनुभव किया है। जिस आदमी को खुजली हो जाती है वह खजुआने को ही आनंद मानता है, पर नीरोग मनुष्य तो शुद्ध आरोग्य-आनन्द को ही पसंद करता है। जाड़े के दिनो मे, जब हम बिलकुल स्वस्थ होते है। बिलकुल सुबह उठकर ठंडे पानी से नहाते है तब सारे शरीर मे से—रोम-रोम से आनन्द फूटता है। क्या उसे छोड़कर हम खजु-

आने के सुख को पसन्द करेंगे? ब्रह्मचर्य का आनन्द आरोग्य-आनन्द की अपेक्षा हजार गुना अद्भुत और उन्नत होता है। उसके अनुभवी बहुत कम होते हैं। पर इसे कोई ब्रह्मचर्य का दोष नही कह सकता।

पालखी और डोली मे बैठकर घूमने में भी आनन्द है। सामने से जोरो की हवा चल रही हो उस समय टेकड़ी पर चढ़ने मे भी आनंद है। आलस्य मे और उद्योग मे भी आनन्द है। पर इन दोनो में प्राणप्रद कौनसा है और प्राणनाशक कौनसा है? इसका तो परिचय प्राप्त कर ही मनुष्य को अपनी पसन्दगी करनी चाहिए। इस तरह विचार करने वाला आदमी कला और परिश्रम मे विरोध की कल्पना ही नही कर सकता। स्वयं जीवन-रस को शुष्क करने वाली इस बीसवी सदी की मजदूरी को सच्चा परिश्रम नही कहा जा सकता। कला के नाम विलासिता का प्रचार करनेवाले धनिको ने ही इस प्राण-नाशक मजदूरी को उत्पन्न किया है। इस बात को हमे क्षण भर के लिए भी नही भुलानी चाहिए। अमेरिका की स्त्रियो की टोपियो की शोभा बढ़ाने के लिए संसार भर के सुंदर सुदर पक्षियो को मारने का उद्योग शुरू हुआ। भला इससे भी कही कला को पोषण मिल सकता है? लॉर्ड कर्जन ने भारत का चाहे कितना ही नुकसान किया हो, पर उसने भारत के मोरो और अन्य पक्षियो के पीछे विदेशो मे भेजने के व्यापार को बन्द करके जरूर एक सुंदर काम कर डाला। प्रत्येक प्रामाणिक मजदूरी मे—जीवन-पोषक मजदूरी मे—कला का शुद्ध आनन्द है। जिस वस्तु के निर्माण करते समय पद पद और क्षण क्षण पर सावधानी की आवश्यकता होती है उसमे जरूर ही

कला निवास करती है। चरखा चलाते समय क्षण क्षण पर मुझे सूत की सुंदरता की ओर ध्यान देना पड़ता है। यही नही, बल्कि सूत की सुंदरता का मेरा आदर्श क्षण क्षण अधिकाधिक ऊँचा होता जाता है। लापरवाही से काता हुआ सूत हमारी लापरवाही का स्मारक बन जाता है। जितनी ही वार उस पर हमारी नजर पड़ती है उतनी ही वार हमारे चित्त मे उससे ग्लानि ही उत्पन्न होती है। अतः जहाँ जहाँ अवधान की आवश्यकता है तहाँ तहाँ कला को स्थान है। इस पर से हम यह सर्वसामान्य सिद्धान्त कायम कर सकते है कि जो जो क्रियाये स्वायत्त है, वे ही कला को भी स्थान देती है।

कला का आनन्द शांत और स्थायी होता है। जिसमे विलास है, उससे क्लान्ति, ग्लानि और विषाद जरूर पैदा होते हैं। इसीलिए हम कहते है कि लालित्य और लालसा बिलकुल जुदी जुदी चीजे हैं।

* * * *

एक बंगाली भाई ने मुझ से एक भारी शिकायत की। उन्होने कहा—"कला के नाम आप लोगो ने देश के पुरुषार्थ को बडी चोट पहुँचाई। युवावस्था मे जब कि विद्यार्थियो का जीवन असीम अमर्याद महत्वाकांक्षा से स्फुरित होना चाहिए, जब उनको रात दिन यही स्वप्न रखने चाहिए कि सारे ससार का दुःख मैं अकेला दूर करूँगा, कीर्ति की लालसा यही उनका एकमात्र दोष जीवन मे दृष्टि-गोचर होना चाहिए, और कष्ट सहन ही मे जिन्हे आनन्द मानना चाहिए, ऐसे महत्वपूर्ण काल मे आजकल के नौजवान कला के नाम निकम्मा जीवन व्यतीत करने लगे है। दूसरे

का दुःख देखकर रो पडने के बदले वे अपने ही दुःखड़ो का रोना जहाँ तहाँ रोते फिरते हैं, और स्त्रियो की खुशामद करने ही मे पुरुषार्थ मानते हैं। संसार से नष्ट करने योग्य केवल एक ही दुःख इन नर-वीरो को दिखाई देता है—और वह है वैधव्य। इन भाई की पूरी टीका मैं यहाँ लिखना नही चाहता। अतिशयोक्ति पूर्ण टीका अपने उद्देश्य को ही हानि पहुंचती है। पर यह तो प्रत्येक विचारवान मनुष्य को स्वीकार करना होगा कि जिस तरह सदाचार और पुरुषार्थ के बीच कोई विरोध नही होना चाहिए, उसी प्रकार कला और इन दोनो के बीच भी विरोध न होना चाहिए। यदि कला कोई सच्ची वस्तु हो तो वह जीवन का संगीत रूप होनी चाहिए। जीवन के सभी अंग प्रत्यङ्गो मे जब संगति उत्पन्न हो जाय तभी जीवन में संगीत बहाया जा सकता है।

*   *   *   *

इसीलिए सदाचार सर्वश्रेष्ठ कला है। सदाचार ही में कला युक्त-जीवन है। रूप की उपासना की अपेक्षा प्रेम की उपासना ही श्रेष्ठ है। लैला और मजनू की कथा को रूढ़ करनेवाले सूफी कलाकारो ने मजनूँ को सुदामा का दूसरा अवतार बना कर और लैला को कृष्ण रात्री का कुसुम कल्पित कर यही बात जाहिर की है कि उच्च कला रूप की भी उपासना नहीं करती। घर के दीवान खाने मे हरिण का सिर या सीगो का प्रदर्शन करनेवाला सौन्दर्य का उपासक भले ही समझा जाय पर उसके जीवन के कलाशून्य होने मे कही सन्देह हो सकता है? फिर आप शत्रु की खोपड़ी इकट्ठी करने वाले तिब्बत के निवासियो को जंगली क्यो कहते हैं? शिकारी राष्ट्रो से कला का पाठ यदि हम पढ़ने बैठें

तो फिर कला में विकला का संकर हो इसमें कौन आश्चर्य की बात है। । हरिणों के सिरों से अपने दीवानखाने को सजाने वाले आधुनिक रसिक मनुष्य और विजित लोगों के सिरों को मिट्टी में रख कर एक विजय स्तंभ की रचना करने वाले तैमूरलंग में कोई जाति का भेद नहीं है। नन्हें-नन्हें बालकों के हाथ तोड़ कर उन्हें फूल पात्रों में रख कर दीवान खाने को सजाने वाले मनुष्य को यदि आप नर-पशु राक्षस कहें तो प्रेम-धर्म को भुला कर कला को विकास करने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को भी आप को वही नाम अर्पित करना चाहिए।

कला धर्म का स्थान नहीं ले सकती। पर वह धर्म की विरोधिनी तो कदापि नहीं हो सकती। कला सत्य तक नहीं पहुँच सकती। पर सत्य का द्वेष भी उसे नहीं करना चाहिए। कला में संपूर्ण पुरुषार्थ समाविष्ट न हो पर पुरुषार्थ की विघातिका उसे किसी प्रकार न होना चाहिए। समाजोपयोगी प्रत्येक मजदूरी में कला का दर्शन करने की दिव्य दृष्टि यदि हमें प्राप्त न हो सके तो कम से कम कला को मजदूरी का तिरस्कार करने का पाप तो हरगिज न करना चाहिए। मजदूरों का जीवन उसे विषम कदापि नहीं कर देना चाहिए। मजदूरी का द्रोह करने से जब जीवन ही नहीं टिक सकता तब कला कहाँ बचने लगी?

* * * *

कोई कहेगा, कला को इतने बन्धनों में जकड़ने पर उसके लिए क्षेत्र ही कहाँ रह जाता है? उत्तर यह है कि ये कला के बन्धन नहीं, संरक्षक भाई हैं। उनके सहवास में ही कला का विकास हो सकता है। उनकी सहायता उसे न मिलने पावे तो

कला की नित्य वैरिणी बात की बात मे कला का कण्ठ धर दबावे। भाइयो के सहवास मे ही बहन जीवन-व्यापी क्षेत्र मे विहार कर सकेगी। भाई अपनी बहन के क्षेत्र को सकुचित नहीं करते बल्कि उसे सम्पूर्ण क्षेत्र का अधिकार सौंप देते हैं।

———

प्राचीन साहित्य*

साहित्यकारो ने कविता की तुलना कान्ता से की है। शास्त्रकारो ने कुटुम्ब मे जो प्रतिष्ठा स्त्री की कल्पित की है वही संस्कारी जीवन मे साहित्य की भी है। जो समाज स्त्री की प्रतिष्ठा को भूल जाता है वह साहित्य की कदर भी क्या करेगा ?

जो मनुष्य जीवन भर व्रत-नियमादि किया करता है, उसे यह होश नही रहता कि हम कहाँ थे और कहाँ जाते हैं। उसके लिए भूत और भविष्य दोनो शून्य हैं। क्या हमारे टीकाकारो का भी यही हाल तो नही हो गया हो ? संस्कृत साहित्य के रहस्य को प्रकट कर देने वाले टीकाकार कम नही है। यदि साहित्य का कुरुक्षेत्र करना हो तो हमारे टीकाकारो की सेना इतनी बड़ी है कि वह जिस देश को चाहे हरा सकती है। परन्तु साहित्य को व्यापक दृष्टि से देखना किसी को सूझा ही नही। जिस तरह कालिदास पुष्पक विमान मे बैठकर लङ्का से अयोध्या तक के प्रदेश का निरीक्षण विहग-दृष्टि से कर सका, अथवा यक्ष पर दया कर के वह हिमगिरि से अलकापुरी तक मेघ को भेज सका, उस तरह एक भी टीकाकार को यह नही सूझा कि वह साहित्य-खण्ड का

---

* कवि-वर रवीन्द्रनाथ टागोर के 'प्राचीन साहित्य' के गुजराती अनुवाद के उद्देश्य से लिखा हुआ लेख।

समग्र अवलोकन करे'। जिस तरह वीणा दस-पाँच मनुष्यों ही का मनोरंजन कर सकती है, उसका सङ्गीत किसी महासभा में व्याप्त नहीं हो सकता, उसी तरह टीकाकारो की दृष्टि भी एक सम्पूर्ण श्लोक के बाहर नहीं पहुँचती। ज्यादह से ज्यादह यदि उसने यह बता दिया कि नान्दी का श्लोक सम्पूर्ण नाटक की वस्तुओ को किस तरह सूचित करता है, तो वह कृतार्थ हो जाता है। हमारे साहित्य-मीमांसक भी जितनी गहराई मे उतर सके हैं, उतने विस्तार से देख नहीं सके। एक श्लोक के भीतर दस-पाँच अलकारो की ससृष्टि सिद्ध कर सकते है, परन्तु यह बतलाना वे अपना कर्त्तव्य नहीं समझते कि एक सम्पूर्ण महाकाव्य या खडकाव्य किस तरह एक राग है, उसका आत्मा कहाँ है? इसका अपवादरूप एक क्षेमेन्द्र गिना जा सकता है। इस काश्मीरी महाकवि ने अलंकार और रसो के बाद औचित्य का महत्व बतला दिया है। उसने एक ही कवि के एक ही श्लोक का रस निचोडने के बदले संस्कृत साहित्य के बत्तीस विख्यात कवियो की भिन्न भिन्न काव्य-कृतियो को ले कर उनके गुण और दोषो की विवेचना की है। यह निष्पक्ष कवि दोषो को बताते समय अपने दोषो को भी ध्यान में लाना नहीं भूला। तथापि यह कल्पना तो क्षेमेन्द्र को भी नहीं सूझी थी कि एक सम्पूर्ण नाटक अथवा काव्य ले कर उसके रहस्य की खोज की जाय। इसकी दृष्टि से औचित्य था'—

> पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे।
> क्रियायां कारके लिंगे वचने च विशेषणे॥
> उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
> तत्वे सत्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सार-संग्रहे॥

प्रतिभाग्रामग्रस्थायां विचारेनाप्यथाशिपि ।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ॥

कितनी ही जगहो मे औचित्य-विचार की चर्चा करके कवि रुक गया है । रवीन्द्रनाथ ने हमे साहित्य की ओर देखने को एक नई दृष्टि दी है ।

जैसे नाटक काव्य का निष्कर्ष है, उसी तरह कवि भी सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय आकांक्षा, जातीय आदर्श अथवा प्रजा की वेदनाओ की स्वयम्भू मूर्ति है ।जब कोई भट्टनारायण 'वेणी-संहार' लिखता है, तब द्रौपदी का क्रोध, भीम की प्रतिज्ञा, कर्ण का मत्सर और अश्वत्थामा की जलन का चित्र खींचने के बाद वह राष्ट्रीय उत्थान और पतन की मीमांसा भी अपने ढङ्ग से करना चाहता है । जब कालिदास 'रघुवश' लिखने बैठता है तब रघु के कुल ही की नही किन्तु अखिल आर्य-संस्कृति की प्रकृति और विकृति को अंकित कर देना चाहता है ।

हमारे कवियो की कृतियो की ओर ऐतिहासिक अथवा सामाजिक दृष्टि से देखने को वृत्ति भले ही पश्चिमी लोगो ने सुझाई हो, परन्तु रवीन्द्रनाथ का आर्य-हृदय तो संस्कृत-साहित्य की ओर आर्य-दृष्टि से ही देख सका है । जिस प्रकार एक समर्थ चित्रकार केवल दस–पॉच लकीरो से ही सम्पूर्ण चित्र को सूचित कर सकता है उसी तरह रवीन्द्रनाथ ने भिन्न भिन्न प्रसगो पर लिखे हुए पॉच-सात स्फुट निबन्धो से ही यह सब दिखा दिया है कि संस्कृत-साहित्य क्या है, संस्कृत कवि का हृदय कैसा है, हिन्दुस्थान का इतिहास किस पुरुपार्थ को लेकर बैठा है, इत्यादि । संस्कृत कवियो में ऐतिहासिक दृष्टि भले ही न हो, परन्तु

उनमे ऐतिहासिक हृदय तो अवश्य है । सामाजिक सुख-दु:खो का प्रतिध्वनि उनके हृदयो से जरूर उठती है । राष्ट्र के उत्कर्ष के साथ वे आनन्दित होते हैं और उसकी मूर्छा के साथ मूर्छित । लोगो का अध:पात देख कर उनका हृदय रोता है, और जब ऐसा होता है तब वे प्रेम भरे और मनोहर वचनो से समाज को सचेत करना चाहते हैं ।

जहाँ शास्त्र का वश नही चलता, जहाँ नीति शास्त्र-कार 'ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे' इस तरह अरण्यरोदन करते हैं, वहाँ कविजन अपनी सहृदयता से समाज के हृदय को जागृत करके समाज को उन्नति के मार्ग पर ले जा कर खडा कर देते हैं । मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर और उनकी जाति के अनेक स्मृतिकार समाज पर जो प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके, उस प्रभाव को लुटेरों का प्रमुख वाल्मीकि एक अमर काव्य द्वारा उत्पन्न कर सका है। श्री शंकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर जो दिग्विजय प्राप्त किया, षट्पदी के समान सुदर स्तोत्रो को लिखकर उन महा-परिव्राजकाचार्य ने उससे कही बढ़कर दिग्विजय प्राप्त किया है । शंकराचार्य को शास्त्रार्थ करते समय खडन-मण्डन द्वारा विरोधियो की बुद्धि पर हठ-पूर्वक विजय प्राप्त करना पडी, परन्तु जब वे परम हंस अपने सुन्दर स्तोत्रो का आलाप करते होगे तब लोक-हृदय स्वेच्छा, से राजी-खुशी से पीजडे मे आ गया होगा । ऐसे कवियो का हृद्गत भाव प्रकट करने के लिए उनके समान ही समर्थ कवियो की आवश्यकता थी । बारह वर्ष व्याकरण रटकर, दूसरे बारह वर्ष तक न्याय-शास्त्र के छिलके छीलने के बाद साहित्य-शास्त्र की 'सर्जरी' सीख कर तैयार हुए टीकाकारो का वह काम नही । वाल्मीकि,

भवभूति, भास और कालिदास के समान कवियों ने रवीन्द्र के समान समालोचक को पाकर 'अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलाः क्रियाः' कह कर उसी तरह की कृतार्थता का अनुभव किया होगा जो न्यूटन और केप्लर का जन्म होने पर ब्रह्मदेव को अपनी सृष्टि रचना पर हुई होगी। काल निरवधि है और पृथ्वी विपुला है यह हमारे कवियो की श्रद्धा रवीन्द्र जैसे समान-धर्मात्मा को देखकर चरितार्थ हुई होगी।

जब पुराने टीकाकारो ने हमे अपेक्षित दृष्टि नही दी, तब हमारे पाश्चात्य पण्डितम्मन्य अध्यापको ने हमे उल्टी ही दृष्टि दी। उन्होने यही पाठ पढ़ाना शुरू किया कि यूरोपियन आदर्शानुसार हिंदी इतिहास मे कुछ भी नही। यूरोपियन शिष्टाचार के अनुसार हिंदी-काव्य सर्वदा निचली श्रेणी मे गिने जाते है; इतना ही नहीं वरन् 'क्षेमं केनचिदिदुपाण्डुतरुणा' के समान श्लोक जिस समाज मे निर्माण हुआ, जो समाज किलो की दीवारो मे नही, किंतु वन-उपवन की गोद ही मे परिवर्धित हुआ है, उस समाज के कवियों को निसर्ग निहारने को नेत्र नही हैं, ऐसा कहने की भी ढिठाई करने मे वे और उनके शिष्य नही हिचकते। हवशी मनुष्य जब तक अपना सा रंग और अपनी-सी नाक तथा ओठ किसी के नहीं देखते तब तक उसे कभी सुन्दर नही गिनते।

हिन्दुस्थान का इतिहास उज्ज्वल है, व्यापक है और रहस्य-पूर्ण है। पर वह यूरोपियन इतिहास से बिलकुल भिन्न है, रवींद्र-नाथ ने हमे बतलाया है कि वह सरकारी तहखानो या तवारीखों में नही, बल्कि उस देश के साहित्य मे मिल सकता है जहाँ राष्ट्रीय जीवन सजीव रूप मे विद्यमान है। यह हमारी रंगभूमि

तरह तरह के उपकरणो से 'व्हाइट वे लेड लॉ' कम्पनी के 'शो-रूम' का प्रदर्शन नही करती, इसका कारण हमारा जंगलीपन नही, परन्तु वह सर्वोच्च अभिरुचि है, जो यूरोपियन ह्राकाकारो की कल्पना मे भी नही आ सकती। पर हमे यह समझाना भी रवीन्द्रनाथ ही के नसीब मे बदा था। हम नहीं जानते कि कालिदास का मेघ यक्ष के सन्देश को अलकापुरी ले गया था या नही, किंतु रवीद्रनाथ ने तो उसीको अपना दूत बनाकर उसके द्वारा हमें प्राचीन समय के भारत का साक्षात्कार कराया है। राष्ट्रीय हृदय जिसे स्वीकार करता है, वह काव्य इतिहास के पद को प्राप्त कर सकता है। यह उन्होने रामायण मीमांसा करके सिद्ध किया है। इस तरह अनेको पद्धतियो से उन्होने संस्कृत साहित्य का उद्‌घाटन किया है।

परन्तु रवीद्रनाथ की प्रतिभा खास सोलहो आना प्रकट हुई है, उनके कुमार-सम्भव और शाकुन्तल के निबन्धो मे। जर्मन्न कवि गटे की एक-श्लोकी टीका को ले कर कवींद्र चले हैं और उन्होने अपनी अलौकिक शक्ति से यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि किस तरह शाकुन्तल कालिदास की सम्पूर्ण-कृति है। शेक्सपियर के टेम्पेस्ट के साथ शाकुन्तल की तुलना करके शेक्सपियर के मुकाबिले मे उन्होने कालिदास की अभिरुचि की श्रेष्ठता को प्रकट करने के योग का भी बड़ी अच्छी तरह साधन किया है। शाकुन्तल पर लिखा उनका निबन्ध एक अपूर्व योग है। कालिदास, गटे, शेक्स पियर और रवींद्रनाथ इन चार प्रतिभा-सम्पन्न, विश्वविख्यात महा कवियो का कण्वाश्रम मे सम्मलित होना यह कुछ सामान्य वस्तु नही। कवियो की वाणी मे कल्पनाओ के चाहे जितने फव्वारे उड़ते हो, तो भी वह वाणी खाली कल्पनामय नहीं होती। यह बात तो

रवीन्द्रनाथ ही ने सब से पहले इतनी सम्पूर्णता से प्रकट की है। उन्होंने बताया है कि उसमे तो व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन-रहस्य का तत्वज्ञान होता है, समाज-शास्त्र और धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र इनके अन्तिम सिद्धान्तो को तर्क की दस्तनदाजी और गड़बड़ से बचाकर कविजन अपनी अपूर्व प्रतिभा से उन्हे अनुप्राणित करते है और उसे जीवन के समान एक सम्पूर्ण और सजीव कृति निर्माण करते हैं। जो यहाँ है सो वहाँ है, जो वहाँ है सो यहाँ है, सृष्टि सभी एक-रूप है, इस ऋषियो के देखे हुए सिद्धान्त को कविजन हमारे सम्मुख मूर्तिमान् खड़ा कर देते हैं। संस्कृत मे 'कवि' शब्द से जो भाव मन मे उत्पन्न होते है वे अँग्रेजी मे 'पोएट' शब्द से नही होते। कवि अर्थात् द्रष्टा। जो जीवन-रहस्य को देखता है, जिसे इह और पर सृष्टि दोनो समान तथा प्रत्यक्ष हैं, जो अतिवाद मे उतर सकता है, जो इस ससार में रहते हुए भी इस संसार का नही, वही कवि है। और कवि वही है जो चर्म-चक्षु से नही देखता, जिसका आकलन तर्क-दृष्टि से नही होता, और जो ऐसे अतीन्द्रिय, सूक्ष्म और स्वसवेद्य अनुभवो का सम्पूर्ण साक्षात्कार करके कि, जिनके लिए व्यावहारिक संसार मे प्रमाण नही मिलता, उन सब अनुभवो को शब्द अथवा वर्ण के समान मर्यादित साधनो द्वारा दूसरो के लिए भी प्रत्यक्ष कर सकता है। कवि वे है जो इस सृष्टि की—इस बाह्य-सृष्टि और अन्त. सृष्टि की आधार-स्वरूप ईश्वरीय योजना का ईश्वरी लीला और ईश्वरी आनन्द का साक्षात्कार कर सकते है। वैदिक ऋषि जब ईश्वर स्तुति की ऊर्मि के शिखर पर पहुँच जाते हैं तब परमेश्वर ही को 'कवि कह कर पुकारते है। इस सृष्टि को ईश्वर का काव्य बतलाते है। इसीलिए

कवि का सीधा अर्थ निश्चित होता है सृष्टि का रहस्य जानने वाला। कालिदास ने जीवन के रहस्य को किस तरह पहचाना था यह न तो मल्लिनाथ ने जाना, और न जाना राववभट्ट ने। इस रहस्य को तो जाने गटे या रवीन्द्रनाथ ही।

कवियो की कृतियो पर टीकाकार तो वहुत हो गये हैं, परन्तु 'काव्येर उपेक्षिता' मे रवीन्द्रनाथ ने जो रसिकता और दाक्षिण्य बतलाये हैं वे तो अपूर्व ही है। 'काव्येर उपेक्षिता' एक असाधारण टीका है। पर वह उतना ही अप्रतिम काव्य भी है। रवीन्द्रनाथ एक भी दूसरा निबन्ध न लिखते, केवल यही एक निबन्ध लिख-देते, तो भी साहित्य-रसिको को उनकी काव्य-शक्ति का पूरा पूरा पता लग जाता।

मार्मिक पाठक के लिए यह जान लेने के लिए किसी भारी प्रमाण की आवश्यकता नही है कि "चोखेर वाली" तथा "नौका डूवी" उसी कवि के लिखे है जिसने "काव्येर उपेक्षिता" में पत्र लेखा का विवेचन किया है।

जो यह कहते हैं कि हमारे कवि सृष्टि का निरीक्षण करते ही नही, उन्ही पुरानी उपमाओ को दोहराते चले जाते हैं, वे न तो स्वयं ही सृष्टि का निरीक्षण करते और न काव्य का परीक्षण। यदि वे टीकाकार रवीन्द्रनाथ का वह निबन्ध पढ़ेंगे, जिसमे उन्होंने कादम्बरी का दर्शन कराया है तो अवश्य उनका भ्रम दूर हो जायगा। साहित्यकार जो वाणभट्ट की कादम्बरी को नारिकेल-पाक कहते हैं, उसका यह वढ़िया से वढ़िया उदाहरण है। वाणभट्ट के काव्य-कान्तार मे गेडे के समान अकुतोभय संचार तो वही कर सकते हैं, वन-वाराह के समान वहाँ मुस्ताक्षति भी वही कर सकते हैं,

हरिणो के समान कल्पना-तृणांकुरो को अर्ध-विलीढ़ करके इतस्ततः वहीं फेंक सकते है, अथवा अभिनव-मधु-लोलुप भ्रमर के समान वही वहाँ स्वेच्छा-विहार कर सकते हैं जिन्होने हिमालय के समान पर्वत और मेघना या पद्मा के समान नदियाँ देखी हैं, अथवा जिन मनुष्यो ने पुष्प, पक्षी, तारे और लड़को के साथ खेलने मे बरसों व्यतीत कर दिये है। संस्कृत साहित्य मे अंत.सृष्टि और बाह्यसृष्टि का जो सारूप्य और तादात्म्य है, उसका सम्पूर्ण दायित्व रवीन्द्रनाथ को मिला है। इसीसे कालिदास, बाणभट्ट और वाल्मीकि के समान कविजन पुत्र-संक्रांत-लक्ष्मीक पिता के समान कृतार्थ हो गये है।

जबसे हिंदुस्तान मे युनिवर्सिटी स्थापित हुई तबसे प्रत्येक ग्रन्थ का बहिरङ्ग-परीक्षण करने की प्रणाली बहुत ही बढ़ गई है। काल-निर्णय, पाठ-भेद की मीमांसा, प्रक्षिप्तवाद खड़ा करना यह तो हम खूब सीख गये हैं, और यदि एक ग्रन्थकार के नाम पर अनेक ग्रन्थ हो तो हम यह भी अनुमान करने लग गये है कि एक ही नाम के अनेक लेखक हो गये होगे, और इन ग्रन्थो के लेखक भिन्न-भिन्न होगे। सत्यान्वेषण की दृष्टि से और ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह सभी आवश्यक और महत्वपूर्ण तो जरूर है। परन्तु यदि हम बागीचे की लम्बाई, चौड़ाई, उसके भीतर के वृक्षो की तफसील और गिनती आदि ऊपरी बातो ही की जानकारी करने में सम्पूर्ण समय लगा देंगे और फूलो की सुगन्धि और फलो का स्वाद लेना भूल जायँगे, तो दुष्यन्त के समान रसिक हमें अवश्य कहेगा कि, 'इन्द्रियैर्वञ्चितोऽसि'।

आज हम शिक्षा का आदर्श और शिक्षा की प्रणाली में

परिवर्तन करना चाहते है। पाश्चात्य आदर्श को गुरु-स्थान मे रख कर उस गुरुदृष्टि से संस्कृत-साहित्य की खोज करना हम नही चाहते। हम अपने प्राचीन कवियो के समीप शिष्य भाव से समित्पाणी हो कर जाना चाहते हैं। आस्तिक जिज्ञासा से उनसे प्रश्न करना चाहते है। ऐसे प्रसंग पर संस्कृत-साहित्य के विषय मे यह जान लेना परमावश्यक है, जो हमारे कवि सम्राट ने कहा है, और जिनके लिए हमे अभिमान है।

नदीमुखेनैव समुद्रमाविशेत्।
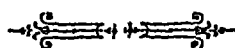
सुबह या शाम को जब हम नदी के तट पर जा कर शान्ति पूर्वक बैठते है तो अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वहॉ बालू का विशाल पट प्रति दिन ज्यो का त्यो ही दीखता है, तथापि उसका प्रत्येक कण हवा और पानी से स्थान-भ्रष्ट होता रहता है। इतनी सब बालू कहाँ से आती है और जाती कहॉ है ? बालू के पट पर यदि हम चलते है तो बालू मे स्पष्ट या अस्पष्ट पाद-चिह्न उठते है, पर घडी दो घडी के बाद हवा के कारण उनका 'नाम-निशान' भी नही रहता। दोनो किनारो के बीच नदी बहती है परन्तु वह किसी समय ठहरती नही। पानी आता है और जाता है, आता है, और जाता है। जब हम बच्चे थे तब सोचते थे "रात को यह नदी का पानी सो जाता होगा और सवेरे सबसे पहले उठकर फिर बहने लग जाता होगा। सूर्य, चन्द्र और ये नौ लाख तारे जिस प्रकार विश्राम लेने के लिये पश्चिम की ओर उतरते है, उसी प्रकार यह पानी भी रात मे सो जाता होगा। विश्रान्ति की आवश्यकता तो सब को एक सी है।" पर बाद मे देखा कि नही, नदी को विश्रान्ति की आवश्यकता नही होती। वह तो बहती ही रहती है।

नदी को देख कर ख्याल होता है—'यह आती कहॉ से है और जाती कहॉ तक है ?' यह विचार—यह प्रश्न सनातन है। नदी

का आदि और अन्त तो होगा ही। जितनी बार नदी को देखते हैं उतनी ही बार यह प्रश्न मन मे उठता है; और ज्यो ज्यो यह प्रश्न पुराना होता है त्यो त्यो वह अधिकाधिक गम्भीर, काव्यमय और गूढ़ बनता जाता है। अन्त मे दिल नही मानता, पॉव नही रुकते, मन एकाग्र हो जाता है और पैर चलने लगते हैं। आदि और अन्त खोजने की यह सनातन स्फूर्ति हमे नदी से मिलती है, और इसीसे हम जीवन-प्रवाह को भी नदी की उपमा देते आये हैं। उपनिषत्कार और देशी कवि, मॅथ्यु आर्नोल्ड जैसे कवि और रोमॉ रोलॉ जैसे उपन्यास-लेखक जीवन को नदी ही की उपमा देते हैं। इस संसार की सब से पहली पथिक नदी है। इसीलिए पुराने लोगो ने नदी के उगम, संगम और मुख को अत्यन्त पवित्र माना है।

नदी कहाँ से आती है और कहॉ जाती है? शून्य से आती है और अनन्त मे समा जाती है। शून्य अर्थात् अति अल्प, सूक्ष्म परन्तु प्रबल, और अनन्त अर्थात् शान्त और विशाल। शून्य और अनन्त दोनो एक-से गूढ़ हैं, दोनो अमर है। शून्य से अनन्त की ओर—यह सनातन लीला है। दोनो एक ही हैं। जैसे कौसल्या या देवकी के प्रेम में समाने के लिए परब्रह्म ने बाल रूप धारण किया उसी तरह करुणावश अनन्त स्वयं शून्यरूप धारण कर हमारे सम्मुख खड़ा होता है। ज्यो ज्यो हमारी शक्ति बढ़ती है त्यो त्यो शून्य विकसित होता जाता है। जब अन्त में वह अपने विकास-वेग को संभाल नहीं सकता तो मर्यादा को तोड़कर अनन्त हो जाता है। वह विन्दु का सिन्धु बन जाता है।

यही दशा मानव-जीवन की है। व्यक्ति मे से कुटुम्ब, कुटु-

॥ से जाति, जाति से राष्ट्र, राष्ट्र से मानवता और मानवता से ात्मौपम्य मे, इस तरह हृदय की भावनाये विकसित होती जाती । हम अपनी भाषा द्वारा स्वजनों का हृदय समझते हैं और अन्त मे सम्पूर्ण विश्व का आकलन करते है। गाँवो से प्रान्त, ान्तो से देश, देशो से विश्व इस तरह 'स्व' का विकास करते करते 'सर्व' मे लीन हो जाना ही नदी और जीवन दोनो का क्रम है। नदी स्वधर्म-रत रहती है और अपनी मर्यादा को सुरक्षित रखती है। इसी से प्रगति करती हुई अन्त मे नाम और रूप का याग करके समुद्र मे अस्त हो जाती है। स्मरण रहे अस्त होती है, नष्ट नही। वह चलती ही रहती है। यह नदी का क्रम है। यही क्रम जीवन का है। जीवन-प्रद शिक्षा का दूसरा कौन सा क्रम हो सकता है?

जीवन का संगीत
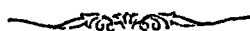
शास्त्रवेत्ता चाहे कितने ही सर्वज्ञ हो, परन्तु उन्हे यह अभिलाषा तो जरूर ही बनी रहती है कि सामान्य मनुष्य उनके शास्त्र के विषय मे क्या अभिप्राय रखता है। इसी अभिलाषा या उत्सुकता को कुछ अंशो मे पूर्ण करने के लिए आज मै इस संगीत-चर्चा मे प्रवृत्त हो रहा हूँ। मै शिक्षा-शास्त्री होने का दावा करता हूँ। इस बात को तो प्राय सभी जानते हैं कि भगवान मनु ने ब्रह्मचारियों के लिए संगीत को चाहे कितना ही निषिद्ध बताया हो, पर आज कल तो वह शिक्षा का एक प्रधान अंग माना जाता है। अर्थात् शिक्षा की दृष्टि से संगीत का विवेचन करना तो मेरा क्षेत्र हुई है। परन्तु आज कल के संस्कृतियुक्त अध्ययन के युग मे हमारे सगीत मे आर्य-संस्कृति किस हद तक व्यक्त हुई है, साथ ही भविष्य मे हमारा सगीत किस रूप को धारण करेगा, जीवन मे उसका स्थान कहाँ होगा आदि बातो पर भी हमे अवश्य ही विचार करना होगा।

आज समाज मे हम क्या देखते है? सामान्यत सगीत कला के प्रति उदासीनता। जहाँ उदासीनता नही, तहाँ कितने ही लोग संगीत का आत्यंतिक विरोध करते है। दूसरी ओर कितने ही लोग ऐसे है, जिनके जीवन मे सिवा संगीत के और कुछ आकर्षक वस्तु ही नही दिखाई देती। सगीत के विरोधी कहते हैं

"संगीत से मनुष्य शौकीन, विलासी, और फिजूल खर्ची हो जाता है। संगीत के पीछे जो आदमी पड़ता है, वह संसार के आवश्यक व्यवहारों की तरफ से बिलकुल लापरवाह हो जाता है। विद्यार्थी तो एक बार संगीत की धारा में आये कि वहे। फिर व्याकरण, गणित, तर्क जैसे प्रखर विषयो मे तो उनकी बुद्धि काम दे ही नहीं सकती। पर सामान्य विषयों पर से भी उनका चित्त उचट जाता है। जिसे संगीत का शौक लगा उनके यहां सुबह शाम दोस्तो की बैठक जमी समझिए। उनके लिए गाने-बजाने की महफिल के सामने और किसी कार्य का महत्व ही नही रह जाता। अंगरेजों ने लखनऊ सर कर लिया, पर इतने पर भी लखनऊ के नवाब साहब तो यही कहते रह गये कि 'एक और ठुमरी हो जाय'। औरगजेब ने संगीत का बहिष्कार व्यर्थ नही किया था।"

प्रतिपक्षी जब दलील करने लगता है तब वह भी इसी प्रकार आग्रही होता है। नाद तो ब्रह्म है, उसकी उपासना से चतुर्विध पुरुषार्थ तो क्या, मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है। एक नाद-ब्रह्म को संतुष्ट करने से सभी देवता अपने आप संतुष्ट हो जाते हैं। गानानंद और ब्रह्मानंद के बीच विशेष भेद नही हो सकता। सामवेद के गायन से देवता भी संतुष्ट हो जाते है, फिर मनुष्यो की कौन कथा? व्यवहार मे भी यही अनुभव है कि 'सद्यः फलती गांधारी'।

हमें सब से पहले यह जान लेना चाहिए कि संगीत के मानी जीवन सर्वस्व नही। साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि संगीत-शून्य जीवन अनेक प्रकार से नीरस और अधूरा होता है। संगीत एक अत्यन्त तेज वस्तु है। वह अधिक से अधिक उपयोगी है, और इसीलिए उसका दुरुपयोग भी हो सकता

है। संगीत का न तो किसी ख़ास प्रकार के लोगो ने ठेका ही ले रक्खा है और न वह अस्पृश्य ही है। संगीत मनुष्य जीवन का एक अत्यंत आवश्यक और विश्वजनीन अंग है। सुबह-शाम प्रकृति को शब्दमयी बना देने वाले पक्षियो को संगीत की जितनी आवश्यकता है उतनी ही मनुष्य जाति को भी है। थके हुए आदमी को अन्न अथवा निद्रा की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही सगीत की भी। सूर्योदय से लगा कर दिनान्त तक काम करने वाले मजदूरो को पूछिए कि उनके लिए परिश्रम के बीच विश्राम की चीज क्या है? प्रातःकाल उठकर चक्की चलाने वाली गृहणियाँ, गाँव के कपड़े साफ करने वाला धोबी और धोबन, संसार की लज्जा को ढाँकने वाला जुलाहा, घर को टीपने वाली मजूरिन, हल चलाने वाले संसार के अन्नदाता किसान, माल को यहाँ से वहाँ ले जाने वाले बनजारे, गाये चराने वाले गवाल, दरिया पर नाव चलाने वाले मल्लाह, फकीर-बाबा, कत्थक, भाट, अरे! भिखारी और पशु तक संगीत की सहायता से अपने भार-रूप जीवन मे आनन्द को देख और उसका साक्षात्कार कर सकते है या उसमे नवीन आनन्द को निर्माण कर सकते है।

संगीत की इस असाधारण शक्ति को देखकर इसका दुरुपयोग करने वाले भी कम नही पैदा हुए। संगीत एक प्रकार की मानसिक मदिरा का भी काम दे सकता है, यही देखकर हिंसा-कुशल लोगो ने इसे युद्ध मे स्थान दिया है। "शंखाश्च भेर्यश्च पणवानक गोमुखाः" जब एक दम बजने लग जाते हैं तब आदमी अपने आपको भूल जाता है। रणमत्त बन जाता है और चाहे जो करने को तैयार हो जाता है। लश्करी बैंड तो फौज का आधा

प्राण है। सात्त्विक लोग इसी संगीत का उपयोग भक्ति-भाव का विकास करने मे करते हैं। और कितने ही लोग तो ताल-मृदंगादि वाद्यों को मनमाना ठोक-पीट कर वृत्तियों को बधिर कर डालते हैं। वे इस उन्माद को ही आध्यात्मिक उन्नति समझ लेते है। पूजा के पहले अफीम खा कर उसमे एकाग्रता प्राप्त करने का प्रयत्न जितना प्रमादमूलक है उससे यह किसी प्रकार कम नही है।

संगीत तो भावना की भाषा, जीवन का उद्गार है। सच्चा संगीत जीवन का प्रतिबिम्ब ही होता है। आगे चल कर वही जीवन का मार्ग-दर्शक भी बन जाता है। जीवन मे जब नवं रसो का विकास होता है तभी साहित्य, कला और सगीत में भी नव रस खिलने लगते है। समस्त समाज का जीवन जागृत होगा तो सगीत भी सर्वत्र जागृत रहेगा। जीवन-ज्योति जब मंद हो जाती है, उसपर जब राख छा जाती है, तब संगीत भी समाज मे अप्रतिष्ठित हो जाता है। ऐसे समय संगीत के कितने ही उपासक प्रयत्न पूर्वक संगीत की विरासत को सुरक्षित रखने की चेष्टा करते है। शनै. शनै उनका एक वर्ग ही बन जाता है। हरिदास के बाद तानसेन अवश्य ही आवेगा। यह स्थिति अपरिहार्य है। अपनी पुरानी विरासत की रक्षा करने वाला एक पृथक् वर्ग ही न हो तो प्रमादी समाज को सर्वस्व गवाने मे कोई देरी न लगे। संगीत की विरासत को कायम रखने के लिए जहाँ एक पृथग्वर्ग बना कि अवश्य ही वह फुरसत और योगक्षेम की निश्चितता की माग पेश करेगा। वह निश्चितता प्राप्त करने का उसे हक जरूर है, पर यह एक जुदा सवाल है कि इससे उसे फायदा भी होगा या नही। बिना जड के पेड़, और बिना कीच का

कमल निष्प्राण और असत्य हो जाता है। उसी प्रकार जीवन-यात्रा के प्रयास से शून्य जीवन दिन-ब-दिन समाज से पृथक होता जाता है। जीवन-मंत्र को भूलकर वह विकृत दशा को प्राप्त होता है।

संगीत के संरक्षक फुरसत भले ही प्राप्त करें, संगीत के रसिकों को—हम लोगो को—उनसे ईर्ष्या नहीं होगी। उनको प्रसन्न रखने ही मे हम प्रसन्न रहेगे। पर संगीत-रक्षको को हम यह तो जरूर नम्रता पूर्वक कहेगे कि आपको जीवन के सभी अंगो और उपांगों से परिचित रहना चाहिए। सो भी केवल इस ख्याल से कि आपकी विद्या—सब विद्याओ मे यह श्रेष्ठ विद्या—व्यर्थ न होने पावे। समाज का पुरुषार्थ, समाज की कठिनाइयाँ, समाज की आकांक्षाये, समाज का साहित्य, और समाज के आदर्शों के साथ आपको एक रूप तो अवश्य ही हो जाना चाहिए। आप मे से अधिकांश समाज से एक-रूप होना तो दूर की बात है, पर उपर्युक्त बातो से मामूली परिचय भी नही रखते। कई वर्ष पहले जब मैं रवीन्द्रनाथ टागोर से मिला था, तब उन्होने मुझसे कहा "मुझे एक महाराष्ट्रीय गायक की आवश्यकता है। यो तो मैं चाहे जितने गायक इकट्ठे कर सकता हूँ, पर ऐसा गायक तो आपके प्रान्त से ही आसानी से मिल सकता है जो शान्तिनिकेतन के वातावरण मे एक रूप हो कर उसके लिए आशीर्वाद रूप हो सकता हो।" आज मेरे मित्र भीमराय शान्तिनिकेतन को संगीतमय कर रहे हैं। महाराष्ट्र ने अभी तक संगीत का अपमान नही किया। अच्छे कुलीन-खानदानी लोगो ने अब तक अपने संगीत की विरासत की रक्षा करने का कार्य किया है। इसलिए संगीत को भी कुलीन संस्कारो का लाभ प्राप्त हो सका है।

संगीत के लिए फ़ुरसत की जरूरत होती है, इसी ख्याल के कारण संगीताचार्य राज्याश्रय ढूंढ़ने लगे। और क्यो न ढूंढें ? स्वराज्य मे राज्याश्रय ढूंढ़ना कोई नीचता की बात तो थी नहीं। फिर जब पडित और साहित्याचार्य लोग—

अनाश्रया न शोभन्ते पंडिता वनिता लताः ।

गा गा कर राज-प्रशस्तियां लिखने में दत्तचित्त होने लगे तब बेचारे संगीताचार्य भी उनका अनुकरण करने लगें तो इसमें कौन आश्चर्य की बात है ?

तू वे मोमद्दसा दरबार, निजामुद्दीन सुजान ।
धवल कलस पर बलि बलि जैये, तुम पर जी ये कुरबान ।
निजामुद्दीन सुजान ॥

श्रेष्ठ से श्रेष्ठ संगीत और निरी खुशामद का यह एक उत्तम नमूना है ।

यह सत्य है कि राज्याश्रय के कारण उच्च संगीत अमीरो के ही उपयोग की चीज़ हो गया। पर उस जमाने में पूँजीपति और ग़रीबो के बीच आज के जैसा असहयोग नही था। राज्य-गायक प्रतिदिन मंदिरो मे जा कर गाते, यात्राओ मे भी जाते, गरीबो में रह उन्हे भी थोड़ी-बहुत तालीम देते और इस तरह सामाजिक जीवन से संगीत का प्रवाह बहाते थे। हम लोगों का जीवन संगीत-मय है। बालक पैदा हुआ कि संगीत, उपनयन मे संगीत और विवाह मे भी संगीत। कितनी ही जातियो मे तो मनुष्य संसार-यात्रा पूरी करता है तब भी संगीत होता है। करीब करीब सभी धार्मिक क्रियाये बिना संगीत के अधूरी मानी जाती हैं। (मुझे यहाँ यह

भी कह देना चाहिए कि हमारे सार्वजनिक संगीत मे जितना ही कर्ण-कठोर भाग पैठ गया है उसे निकाल डालना आवश्यक है)

राज्याश्रय का जमाना बीत गया। अब लोकाश्रय का जमाना आया है। लोकाश्रय के मानी है मध्यमवर्ग का आश्रय। इस आश्रय मे कलाधर अधिकांश मे स्वतन्त्र रहकर स्वाभिमान का विकाश कर सकता है। पर यदि यह लोकाश्रय पश्चिमी ढंग का अनुकरण करने लगेगा तो वह समाज के लिए कदापि आशीर्वाद-रूप नही साबित हो सकता। राज्याश्रय के पुराने जमाने मे गरीबो का बहिष्कार कदापि नही था। धर्म-संस्थाये गरीबों को संगीत परोसने का काम करती थी। आजकल के नास्तिक जमाने मे केवल टिकट के पैसे देने वाला ही संगीत सुन सकता है। यही दशा सर्वत्र हो जायगी तो गरीबो को जीवन के इस एक मात्र समाधान से भी वंचित होना पड़ेगा। लोकाश्रय पर निर्भर रहकर संगीत का उद्धार करने वाले पं० विष्णु दिगम्बर जब हरद्वार आते और गंगा तट पर बैठ गंगा मैया को अपना संगीत सुनाते तब मुझे बडा आनंद होता। क्योंकि इस बहाने सर्व-साधारण को अनायास उनके संगीत का लाभ मिलता। जिस दिन गरीब लोग संगीत से पूर्णतया वंचित रहने लग जावेगे नि संदेह उसी दिन वे पूरे पूरे शैतान हो जावेगे। हमारा पुराना भोला-भाला जीवन नष्ट होता जा रहा है। जीवन कलह मे मनुष्य की अनेको सद्वृत्तियां मारी जा रही है। ऐसे समय तो संगीत की और भी अधिक आवश्यकता है। हजारो लाखो मजदूरो को एकत्र करने वाले, मिल मालिको से मैं जरूर कहूगा कि अपने आश्रितों को आप शुद्ध संगीत सुनाने की व्यवस्था कीजिए। फिर वह भले ही लोक-संगीत हो या शास्त्रीय संगीत,

इसकी कोई वात नहीं। उनकी भजन-मण्डलियो का उत्साह वढ़ाइए। संगीतामृत का प्रवाह शुरू होते ही शराबखोरी और झगड़े कुछ अंशो मे तो जरूर कम होगे।

सच देखा जाय तो संगीत गरीबो का जन्म-सिद्ध अधिकार है। शास्त्रीय संगीत का उद्भव होने से पहले जहाँ-तहाँ लोक-संगीत का ही प्रचार था। उसका जन्म भोली-भाली प्रजा मे ही हुआ है। प्रजा अधिकांश में अपने इस हक को गँवा बैठी यह उसी का अपराध है। अथवा यह कैसे कह सकते कि वह अपराध ही है? उन-के जीवन पर ही उनका अपना अधिकार कहाँ है, जो इसे हम उनका अपराध कहे? हाँ, यह उनका दुर्दैव जरूर है। लोक-संगीत शुद्ध सुवर्ण है। उसी को कूट-पीट कर कलई चढ़ा कर शास्त्रीय-संगीत का निर्माण हुआ है। लाला लाजपतराय ने अपने अमेरिका के अनुभवो मे लिखा है कि महाराष्ट्र और बंगाल के विद्यार्थियो में ही कुछ कुछ संगीत दिखाई देता है। शेष तो संगीत से अस्पृष्ट रहते है। सुशिक्षित लोगो के विषय मे यह टीका सत्य है। यद्यपि सत्याग्रहाश्रम, गुजरात विद्यापीठ और इस सगीत-मण्डल ने इस टीका को, जहाँ तक उसका गुजरात से सम्बन्ध है, दूर करने का सुंदर प्रयत्न किया है। हमारी राष्ट्रीय शालाओ मे संगीत एक आवश्यक—और मै आशा करता हूँ कि—आकर्षक विषय वन गया है। यह भी सौभाग्य का विषय है कि गुजरात के कवि अपनी कवितायें लोक-संगीत के ढांचे मे ही ढालते है।

काव्य और संगीत के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसका विशेष विवेचन करने की मै यहाँ आवश्यकता नहीं देखता। तथापि काव्य और संगीत एक दूसरे के आश्रित नही है। काव्य स्वतंत्र

रूप से रह सकता है। संगीत भी विना काव्य की सहायता के अपनी भावगम्य वाणी बोल सकता है। संगीत एक स्वतन्त्र भाषा है। इसका व्याकरण भिन्न होता है। इसके भाव भी स्पष्ट होते हैं। शब्दो की अपेक्षा संगीत के आलाप अधिक व्यापक और प्रभावोत्पादक होते हैं। संगीत की भाषा को सार्वभौम नही कहा जा सकता। तथापि यदि किसी समाज के जीवन का हमे थोड़ा सा परिचय होतो बिना भाषा समझे भी संगीत पर से उसके भाव समझे जा सकते है। इसीलिए संगीत-प्रवीण गाते समय अपने सगीत के शब्दो के विषय मे इतने लापरवाह रहते है। पर उन्हे इतना तो अवश्य ही जान लेना चाहिए कि सगीत भाषा-निरपेक्ष भले ही हो, पर काव्य और संगीत के बीच विसंवाद को कोई भी संस्कारी-रसिक मनुष्य नही सह सकता। कितने ही गायको का यह भी मत है कि पुरानी चीजो मे शब्दांतर नही किया जा सकता। महज इसीलिए कितनी ही सर्वोत्कृष्ट सगीत वाली चीजो मे नीरसता और अश्लीलता पाई जाती है। और उसे पसन्द न होने पर भी सुनना पड़ता है। 'सैया गुय्यां' जैसे शब्द भी उनकी राय मे वेदमन्त्र के जैसे ही अपौरुषेय होते है। फिर उनमे परिवर्तन कैसे हो सकता है? इस जड़ता को तो उन्हे अवश्य ही छोड़ देना चाहिए।

एक ओर नित्य नवीनता को ढूँढने वाला चचल समाज परिवर्तन चाहता है तहाँ दूसरी ओर वह वृत्ति है कि संगीत मे परिवर्तन हो ही नही सकता। एक बार ऋपियो ने जो निश्चित किया सो किया। उसमे परिवर्तन करने का अधिकार क्षुद्र-पामर मनुष्य को कैसे हो सकता है? 'पुराण मित्येवहि साधु सर्वम्' मानने वालो की राय मे विलासी तानसेन भी संगीत का एक ऋपि है।

है। तानसेन के बाद संगीत मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही हो सकता। संगीत भी सामाजिक सकर के भय से ग्रस्त हो रहा है और मृत्यु की स्थिरता को वह प्राप्त करता जा रहा है। पर इसमे केवल गायकों का दोष नहीं है। अज्ञानी और असंस्कारी लोग संगीत के नाम मनमानी बेहूदी बाते जब करने लगते हैं, तब स्वभावतः गायको के लिए पुराने को ही पकड़े रहना एक कर्त्तव्य सा हो जाता है। प्रत्येक शास्त्र और कला के समान संगीत मे भी नवीन निर्मिति के लिए स्थान है। पर यह काम हर-किसी मनुष्य के हाथ नही हो सकता। जीवन की गहराई मे जो उतर सकता है, भविष्य की आकांक्षाओ को जो अपने हृदय मे अनुभव कर सकता है, और साथ ही साथ जिसने अपनी पुरानी विरासत को हजम कर लिया है वही नवीनता का निर्माण कर सकता है। राष्ट्रीय जीवन मे जब बड़े बड़े परिवर्तन होते है, तब अवश्य ही संगीत मे भी परिवर्तन का होना अनिवार्य है। इसी नियम के अनुसार इस्लामी संस्कृति के परिचय के साथ साथ हमारे यहाँ हिन्दुस्तानी संगीत का जन्म हुआ। अंग्रेजो के आगमन के बाद यदि हमारे संगीत मे कोई नई बात शामिल नही हुई तो इसके दो कारण हो सकते है: एक तो यह कि अंग्रेजो के जीवन में संगीत ही नही है या वे हम से एकदम अलग रहते हैं। अहमदाबाद जैसे शहर मे लग्न-कार्यों मे गली-गली गधे की तरह भूंकने वाला बैंड हमारे जंगलीपन की निशानी भले ही हो पर वह अंग्रेजो के संगीत का नमूना तो कदापि नही कहा जा सकता। अपने को संस्कारवान् सिद्ध करने के लिए हम तथा अंग्रेज लोग चाहे कितनी ही किताबे प्रतिदिन लिखते रहे पर इन सब का खासा उत्तर तो वह बैंड बाजा ही है कि हम

और वे दरअसल संस्कारवान् है या नही। जो लोग कुछ भी संस्कारी होने का दावा करते है, उनको ऐसे जुलूसो मे सम्मिलित होने से साफ इन्कार कर देना चाहिए जिनमे वह बेहूदा बैंड बाजा बजता हो। हमारे रथ्या-संगीत मे बहुत भारी सुधारो की आवश्यकता है। बीस-पचीस वर्ष पहले पूना और सातारा की सड़को पर जो रथ्या-संगीत सुन सकते थे, वैसा आज कल शायद ही कही सुनाई दे। क्या धन बहा कर जंगलीपन का सिक्का अपने सिर पर लगाना अब भी हमारे शहरवासी नही छोडेंगे ?

हमारे सामाजिक जीवन के साथ साथ कदम रखने वाला नवीन संगीत हम अवश्य निर्माण कर सकते हैं। हमारा सार्वजनिक-जीवन नित्य नया रूप धारण करता है, नित्य नवीन सामाजिक आदर्श और भाव समाज मे प्रकट होते जा रहे हैं और सब नवीन संगीत चाहते हैं। हमारी महासभा, हमारे सम्मेलन, हमारी परिषदे, हमारे आश्रम और नवीन नवीन धधे सब को नूतन संगीत की आवश्यकता है।

अमुक राग मे अमुक रस होता है, फलां राग फलां वक्त ही गाई जा सकती है आदि नियम हमारे वैदग्ध्य और उच्चाभिरुचि को प्रकट करते है। पर जहाँ रागो के नाम बदल दिये गये हैं, शुद्ध कोमल की परिभाषा बदल दी गई है, तहाँ पुराने शास्त्रो का अर्थ बड़ी सावधानी के साथ करना चाहिए। क्या हम भी इस बात को नही मानते कि काल-भेद के अनुसार रागों के रस और भाव बदलते रहते हैं ? हमारे पूर्वजो ने संगीत का यह जो मानस-शास्त्र अथवा रस-परिपाक की मीमांसा का निर्माण किया है उसका हमें केवल जड़ता से स्वीकार ही नहीं कर लेना चाहिए। बल्कि विवेक-

पूर्वक उनका अध्ययन कर, नवीन नवीन तरह के प्रयोग कर के हमे उसमे नवीन शक्ति का विकास करना चाहिए, तभी हम अपने कीर्तिशाली पूर्वजो के वंशज कहलाने योग्य अपने को साबित कर सकेंगे। पूर्वजो की कीर्ति पर हमारा कब तक निर्वाह होगा? जातवान घोड़े को अपने मातृ-पितृ वंश का उद्धार नही करना पड़ता।

नवीन रचना जब होगी तब होगी। पर तब तक यदि हम अपनी पुरानी विरासत को ही सुरक्षित रख सकें तो भी काफी है। डाकिया जिस तरह एक गांव का पत्र दूसरे गांव को ज्यो का त्यो पहुचा देता है उसी प्रकार यदि हम अपनी पुरानी विरासत को ज्यों की त्यो नवीन जमाने के हाथो मे सौप दें, तो यह सेवा भी कोई मामूली सेवा नही होगी। यह काम तो संगीत की परम्परा को समझ कर संगीत को लिपिबद्ध करके ही हो सकता है।

अब इस विषय मे कोई संदेह नहीं रहा कि संगीत लिपिबद्ध हो सकता है या नही? आपके मन्त्री ने गुजरात के उत्तमोत्तम संगीत को लिपिबद्ध करके दिखा दिया है। मै आशा करता हूँ कि उनकी यह किताब शीघ्र ही प्रकाशित होगी। इस विषय मे केवल यही सवाल रहा है कि सबके लिए एक ही स्वरांकन-लिपि रक्खी जाय, या सर्वसाधारण के लिए एक स्थूल और विशेषज्ञो के लिए दूसरी सूक्ष्म और संपूर्ण स्वरांकन लिपि रक्खी जाय। निःसन्देह दोनो की पद्धति तो एक ही होगी। इस विषय में मुझे तो गांधर्व महाविद्यालय की पद्धति ही बतौर-बुनियाद के शुद्ध ज्ञात होती है।

यदि हम इस उगते राष्ट्र को संगीत की विरासत सोपना चाहते है, तो उसे संगीत की तालीम देना भी परमावश्यक है। जबतक मनुष्य एक विशिष्ट सीमा तक तालीम नहीं पाता है तब तक

न तो उसका कण्ठ और न कान ही तैयार हो सकते हैं और तब तक मनुष्य को संगीत का रहस्य समझने की योग्यता भी प्राप्त नही हो सकती। पर तालीम का सगीत और भाव-वाही संगीत ये दोनो हमेशा भिन्न भिन्न रहने चाहिए। सगीत की कसरत अत्यन्त आवश्यक है, पर वह प्रदर्शन योग्य नही है। कुश्तीबाज लोग अखाड़े मे कुश्ती करते करते डंड और बैठके लगाकर नही दिखाते। इस भेद को न जानने के कारण कितने ही गायक कोई भावपूर्ण गीत गाते समय एकदम बीच ही मे उसके 'सारेगम' बोलने लग जाते है। इससे भाव-प्रवाह टूट जाता है। उनकी तालीम भी प्रशसनीय तो जरूर होती है पर उसमे यदि भाव का खून होता हो, तब इसे कौन सहन कर सकता है? आलाप करते करते ही जिस प्रकार गायक लोग हर प्रयत्न से सम को साधते हैं उसी प्रकार वे भाव को भी साधने लग जायँ तो श्रोताओ को इतना आनन्द हो जाय कि मानो पृथिवी पर ही स्वर्ग आ गया।

भाववाही संगीत के दो विभाग हैं। संगीत का एक प्रकार स्वर रचना और आलापो के द्वारा ही विकारो को उद्दीपित करता है। यह अशिष्ट होता है तहाँ दूसरी प्रकार का संगीत विकार-शामक और शुभ भावनाओ का पोषक होता है। इस भेद को जानने और उस पर अमल करने को बड़ी भारी आवश्यकता है। इस दिशा मे प्रयत्न करने वाले सुरुचि-सम्पन्न विदग्ध लोग बहुत कम पाये जाते है। यह जमाना तो क्या जीवन और क्या साहित्य मे स्वच्छंद और उच्छृंखलता को प्रतिष्ठा देने वाला है। इसलिए उपर्युक्त काम कठिन है इसमे शक नही।

जीवन के दोष फिलासफी मे उतरते हैं, समाज-शास्त्र मे घुस

ते हैं, और साहित्य में भी प्रवेश पा लेते हैं। फिर वे कला में यों न घुसेंगे ? साहित्य को ही देखिए। पहले राजा-रानी, वीर रुप और देवी देवताओ का साहित्य ही लिखा जाता। प्रजा और सेना तो चित्र को पूरा करने के लिए मात्र कही कही दिखाई ती। आजकल अवकाश पाने वाले मध्यमवर्ग का ही साहित्य ज्यादहतर लिखा जाता है। उपन्यासो का नायक खासकर कोई डॉक्टर, वकील वैरिस्टर या जागीरदार-जमीदार ही होता है। कई बार महान् महान् विचारक भी जमाने के दोष से मुक्त नही रह सकते। ऍरिस्टॉटल जैसे विश्वव्यापी बुद्धि वाले तत्वज्ञानी को भी गुलामी की प्रथा स्वाभाविक ही दिखाई दी। शंकराचार्य जैसे अद्वैतवादी भी वेद का उच्चारण सुनने वाले अंत्यज को सजा का पात्र समझते थे। मनु महाराज भी "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" जैसा ख्याल रखते थे। भक्त कवि तुलसीदास ने तो ढोर-गँवारो के साथ साथ स्त्री जाति को ताड़ने का भी अधिकार उदारता पूर्वक दे दिया। समाज के दोष साहित्य मे अवश्य ही आवेगे। रोमन और ग्रीक कला भी इसी कारण दुष्टता के संसर्ग से मुक्त नही रह सकी। क्योंकि उनका जीवन चाबुक खा-खाकर काम करने वाले गुलामो पर ही निर्भर था। ईजिप्त के पिरामिड कितने ही भव्य हो, पर हैं तो आखिर वे वहां के अल्पजीवी बादशाहो के अपनी पार्थिव काया को शाश्वत बनाने के लिए रचित कब्रस्तान। एक लाख लोग अपने जीवित राजा की कबर बांधने के लिए बीस बरस तक एक सा पसीना बहाते रहे ! कैसा होगा यह समाज ? ऐसे समाज के द्वारा प्रकट की गई कला यदि आसुरी हो भी, तो इसमे कौन आश्चर्य की बात है ? विजयानगर के भव्य

खडंहर, और फूलो की महान् राशी के समान् ताजमहाल देखकर हम भले ही कितने ही आश्चर्य चकित क्यो न हो जायँ। पर उनके अन्दर जो गरीबो की हाय छिपी हुई है, उसे देखते ही यदि हममें कुछ भी मनुष्यता है, तो हमारा सारा आश्चर्य और आनदोन्माद उतर जाना चाहिए। शुद्ध संगीत निष्पाप, तेजस्वी और करुणा-मय जीवन से ही उत्पन्न हो सकता है, क्योकि संगीत भावना की नैसर्गिकी भाषा है। जैसा जीवन वैसी भावना, जैसी भावना वैसा संगीत।

संगीत के मानी केवल गायन नही है। गायन, वादन, नर्तन अभिनय इन सब का संगीत मे समावेश होता है। हमारे यहाँ गायन-वादन का तो काफी प्रचार है, परनर्तन कुछ हद तक स्त्रैण समझा जाता है। इसका कारण यही हो सकता है, कि या तो मर्दानी नर्तन भुला दिया गया है, या हमारे शरीर ही अब नर्तन योग्य नहीं रह गये। नर्तन मे गायन की अपेक्षा अधिक उद्दीपक होने की सम्भावना है इसीलिए पुराने लोगो की रुचि को वह विपरीत जान पड़ा। कई बार मंदिरो मे भक्त नर्तन करते है, गुजरात मे 'गोप-रास' 'डॉडिया-रास' 'गरबियां' आदि नर्तन के कितने ही प्रकार रूढ़ हैं। कितनी ही जंगली किन्तु निष्पाप जीवन व्यतीत करने वाली जातियो मे स्त्री-पुरुषो के मिश्र-रास भी देखे जाते है।

गायन, वादन और नर्तन इन तीनो का सम्मेलन संगीत को परिपूर्ण बना देता है। हमारे पूर्वजो ने राग रागिणियो के स्वरूप और ध्यानो की कल्पना की है। ऋतु, समय, चित्रकला, गंध, रुप, तमाम वस्तुओ के साथ उन्होने संगीत की कल्पना की है।

रेखा, वर्ण और रूप, गंध, रस और समय; रचना औचित्य और तारतम्य, न्याय कारुण्य और प्रेम इन सब का बिना संगीत के साथ अविरोध अथवा बिना सम्वाद उत्पन्न किये सगीत सपूर्ण हो ही नही सकता। जीवन के अग प्रत्यंगो मे जब तक लेश मात्र भी विसंवाद होगा तब तक जीवनव्यापी सगीत हमे कही सुनाई नही दे सकता। मनुष्य का हृदय जब पशु, पक्षी, वनस्पति आदि के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेगा तभी चिर अपेक्षित विश्व संगीत का आरम्भ होगा। शुद्ध नीति, सदाचार और पावित्र्य इस विश्व-संगीत का व्याकरण है, अहिसा और आत्मौपम्य ये इसके अतिम रस है।

———

आवश्यक दृष्टि

राष्ट्रीय शिक्षा के सवाल के मानी हैं भारत के साढ़े सात लाख देहात् मे बसने वाले गरीब माता-पिताओ के बालको की शिक्षा का प्रश्न। हम जानते हैं कि इस देश की जन-संख्या के फी सैकड़ा अस्सी आदमियो को पेट भर भोजन भी नहीं मिलता। जाड़े से रक्षा करने के लिए उनके पास काफी कपड़े न होने के कारण वे कीमती खाद घांस और गोवर जला डालते हैं। बीमारी मे इलाज करने के लिए उनके पास पैसे नहीं होते और न काम पर जाना वंद करके एक आध दिन आराम लेने योग्य उनकी आर्थिक स्थिति ही होती है। फलत बीमारी की हालत में ही बेचारे काम करते रहते हैं। ऐसे लोगो के वच्चो को यदि शिक्षा देना है, तो खर्च और समय का विचार जरूर करना होगा। तरह तरह की कितावे पढ़ा कर हम उनको शिक्षा नही दे सकेंगे। महत्वपूर्ण और उपयोगी ज्ञान प्राप्त करा देने वाली थोड़ी से थोड़ी किताबो से हमे काम चलाना होगा। विशेप जानकारी जो आवश्यक हो, शिक्षक स्वयं पाठ्य पुस्तक पढ़ाते समय वच्चो को करा दिया करें।

खर्च का प्रश्न न भी हो तो भी ज्ञान-प्राप्ति के एक प्रधान साधन की हैसियत से ग्रंथ को नही रक्खा जा सकता। तमाम इन्द्रियों को शिक्षा दे कर उन्हे जाग्रत रख कर उन्हीके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। अकेला ग्रन्थ-वाचन पर ही विशेष निर्भर रहने से

बुद्धि का विकास नही होता, और विवेचन-शक्ति पंगु रह जाती है।

ज्यों ज्यों हम किताबो का खर्च बढ़ाते हैं त्यो त्यों जन साधारण की शिक्षा अधिकाधिक संकुचित होती जाती है। शिक्षाशास्त्री को इस बात का हमेशा ख्याल रखना चाहिए। शिक्षा का ध्येय और दिशा यदि हम निश्चित कर ले तो कम से कम किताबों के द्वारा बढ़िया से बढ़िया शिक्षा भी दी जा सकती है। प्रतिवर्ष यदि किताबो का बदलना बन्द कर दिया जाय तो प्राथमिक शिक्षक के लिए शिक्षण-कला का विकास करना एक आसान बात हो जाय। हां, उनके अनुभव के कारण किताबो में कोई अनायास थोड़ा बहुत फर्क करना पड़े तो बात जुदी है। किताबे यदि छोटी हो, तो परिश्रमी विद्यार्थी अपने हाथो से सुंदर अक्षरो मे उसकी नकल भी कर सके। ज्यो ज्यों पढ़ते जावें त्यो त्यो किताब को लिखते जाने से कितना लाभ होता है, इस बात को अनुभवी शिक्षक भली भाति जानते है।

आजकल कितनी ही किताबो मे इतनी छोटी छोटी बाते दी जाती हैं, और वे इतनी स्पष्ट रीति से समझायी गई है कि विद्यार्थियो को शिक्षक की आवश्यकता ही न रहे। पर इससे शिक्षा एक तो खर्चीली हो जाती है और दूसरे यान्त्रिक हो जाती है। यह बहुत भारी हानि है।

गुरु के द्वारा जो शिक्षा दी जाती है, उसमे विद्यार्थी की योग्यता के अनुसार पद्धति मे फर्क कर दिया जा सकता है। सच्ची शिक्षा तो यही है।

कितने ही अच्छे अच्छे शिक्षा-शास्त्री इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि यदि राष्ट्रीय एकता दृढ़ करना है, तो यह शिक्षा द्वारा देश के

भावी नागरिकों पर निश्चित और एक तरह के संस्कारों के डालते रहने से ही हो सकता है। यदि शिक्षा में अव्यवस्था और नैतिक अराजकता हो, तो समाज सुसंगठित नहीं हो सकता। मनुष्य को प्रतिवर्ष कोई न कोई नई बात सूझती रहती है। पर इसलिए प्रति वर्ष पाठय पुस्तकों मे परिवर्तन करना श्रेयस्कर नहीं है। मनुष्य का दिल प्रति दिन कुछ न कुछ नयी बात सोचता और ढूंढता रहता है। नित्य नवीनता से मनुष्य को प्रेम जरूर होता है पर यह मान लेना भूल है कि उसमे प्रगति ही होती है। नित्य नये परिवर्तन करते रहने से शिक्षा का उद्देश भुला दिया जाता है और संस्कारो की गम्भीरता कम हो जाती है।

बेशक, शिक्षकों के लिए विविध सामग्री की आवश्यकता जरूर है। शिक्षा किस तरह दी जाय, विद्यार्थी के चित्त को किस तरह पहचाना जाय, उसको ज्ञान किस तरह दिया जाय? इन बातो पर शिक्षकों मे दिन-रात चर्चा होनी चाहिए। शिक्षकों को हमेशा अपने अनुभव और विचारो का विनिमय करते रहना चाहिए। इसलिए वे सम्मेलन कर सकते है, और कोई मासिक पत्र भी शुरू कर सकते है जो प्रत्येक पाठक को मुफ्त मिलता रहे।

संक्षेप मे यदि हम राष्ट्रीय साहित्य और खास कर राष्ट्रीय शिक्षा के साहित्य को वीर्यवान् और तेजस्वी बनाना चाहते है, तो साहित्य मे ब्रह्मचर्य को शामिल करना जरूरी है। उच्छृंखल विचारो और कल्पनाओं के फव्वारे छोड़ कर साहित्य-विलास करने से पठन-पाठन बढ़ता है, संस्कार नहीं। और संस्कार भी यदि कहीं किसी अल्प स्वल्प मात्रा मे बढ़ जायँ तो पुरुषार्थ तो कभी नही बढ़ सकता।

केवल शिक्षा

नेपोलियन बोनापार्ट ने जब ईजिप्त पर चढ़ाई की, तब शास्त्रीय और ऐतिहासिक खोज करने के लिए वह अपने साथ मे कितने ही पण्डितो को भी ले गया था। इजिप्त के अरबी घुड-सवारो की युद्ध-नीति कुछ विचित्र ही थी। देश भर मे उनके दल के दल घूमते, और जहाँ कहीं शत्रु की सेना जरा भी असावधान दिखी कि वे कही से एकदम चढ़ आते और आक्रमण कर देते। इस स्थिति का सामना करने के लिए नेपोलियन ने एक नये तर्ज की व्यूह-रचना की। अपनी सेना मे एक पोला चौरस बनाकर वह कूच करता। कूच करते समय सभी एक ही तरफ मुह करके चलते थे किन्तु शत्रु के आने की खबर मिलते ही सभी सेना ठहर जाती और चारो तरफ के वीर चारो ओर मुंह घुमाकर खड़े हो जाते। अर्थात् किसी भी तरफ शत्रु को इस सेना की बगल या पीठ नही दिखाई देती। सेना के साथ पंडित और बोझा उठाने वाले गधे भी रहते थे। अरबी घुड़सवारो के दल को देखते ही नेपोलियन एक दम आज्ञा करता "चौरस बनाओ, गधे और पडित बीच मे" (Form square, Asses and savants in the centre) नेपोलियन के सिपाही कई वार जोर से हंसकर उसके हुक्म का उच्चारण करते "चौरस बनाओ, गधे और पंडित बीच मे" कईबार फ्रेंच सैनिक गधो को अर्ध-पण्डित कहते। इस तरह मजाक करते समय सिपाहियो के दिल मे पंडितो के प्रति कम आदर नही हो

जाता था। सेना के साथ साथ घूमने वाले पण्डित भी कम मुसीबतें नही झेलते थे।

यह किस्सा नेपोलियन के चरित्र से लिया गया है। स्वराज्य की हलचल मे राष्ट्रीय शिक्षा की हिमायत करने वाले हम शिक्षकों को इससे बहुत सी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। हम स्वराज्य के सैनिक बनना चाहते है या सेना की सुरक्षितता मे खोज और अविष्कार करने वाले पण्डित? निसन्देह गॉव-गॉव घूमकर व्याख्यान झाड़ने वाले व्याख्याताओ, और समाचार-पत्रो मे कालम के कालम रंगने वाले, लेखको की अपेक्षा राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य अधिक उच्च, अधिक महत्वपूर्ण, और हमारे आन्दोलन के लिए अधिक लाभदायक है। पर यह तभी होगा जब हम अपनी शक्ति और तपस्या का उपयोग स्वराज्य के लिए करेंगे। शिक्षा के गहन सिद्धान्तो की चर्चा भी हमे अभी करना ही है। मानस-शास्त्र और समाज-शास्त्र, सौदर्य-शास्त्र और धर्म-शास्त्र आदि सब का उपयोग करके राष्ट्रीय शिक्षा को हमे सजा देना चाहिए। यदि खराब पद्धति से हम पढ़ावेगे तो उसका परिणाम भी नि'सन्देह खराब ही होगा। पर इन सब बातो का निवेदन स्वराज्य के चरणो मे कर देना जरूरी है। हमारा वर्तमान आन्दोलन राजनैतिक नही है। वह तो राष्ट्रीय आन्दोलन है। राज-तंत्र मे किंचिन्मात्र पैर फैलाने का अवकाश प्राप्त करने के लिए नही स्वराज्य की प्राप्ति के लिए है। संक्षेप मे कहना चाहे तो राष्ट्रीय मृत्यु से बचकर, गुलामी का कलंक धो कर समाज मे धर्म-जीवन के सिद्धान्त प्रचलित करना इसका उद्देश है। देवासुर-संग्राम मे देवो की सहायता करना इसका उद्देश है। राष्ट्रीय शिक्षको को इस सेना मे सबसे आगे रहना चाहिए। सेना

द्वारा सुरक्षित परदे मे हम नही रहेंगे। वल्कि जगह जगह घूमकर उसे उत्साह देंगे, घायलो की मरहमपट्टी करेंगे, प्यासो को पानी पिलावेंगे, हतोत्साहो मे वीर-श्री का संचार करेंगे, योद्धाओ को बंदूके भर भर कर देंगे। और ज्यो ज्यो युद्ध वढ़ता जायगा त्यो त्यो नवीन सैनिको को इकट्ठा करने के लिए रिक्रूटिंग आफीसर (रंगरूट भरती करने वाले अधिकारी) बनकर गांव गांव घूमेंगे, और युद्ध का रहस्य समझावेंगे।

शिक्षा कितना महत्वपूर्ण विषय है, कितना पवित्र पेशा है, इसे अभी लोग जानते ही नही। लोग नही जानते कि शिक्षा मे वही शक्ति है जो धर्म मे है। स्वराज्य का युद्ध शिक्षा को सोलहों कलाओ मे प्रकाशित कर दिखाने का सुन्दर अवसर है। इस युद्ध मे शिक्षा और शिक्षाकारो का सबसे वड़ा हिस्सा होगा तभी लोग शिक्षा के महत्व को कबूल करेंगे। "हम तो शिक्षाकार है, शिक्षा से बाहर हम अपना ध्यान नही बटावेंगे। स्वराज्य से हमारा कोई वास्ता नही, राजनीतिज्ञ लोग राष्ट्रीय हलचलो मे भले ही सिर खपावे। हम तो तटस्थ ही रहेंगे। स्वराज्य का प्रश्न तो दो दिन का है। हम तो अनन्तकाल का विचार करते है, सनातन सिद्धान्त के अनुसार वरतते है।"

इस तरह की दलीले पेश करने वाले जो लोग है, वे स्वराज्य के मानी तक नही जानते। स्वराज्य नही मिले तो शिक्षा के तमाम सिद्धान्त और पद्धतियां धूल के समान है। परतन्त्रता का कलंक सिर पर धारण कर दुर्वल हृदय से दुर्वल बच्चो को दुर्बल शिक्षा देने मे हमारी, हमारे बच्चो की और हमारे पेशे की भी बदनामी है।

शिक्षा-शास्त्री का कर्तव्य
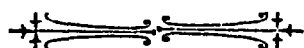
[एक-दो विचार]

लोकमान्य तिलक की एक दो बाते पुन' पुन. याद आती हैं। वे कहते थे कि कवि स्वयंभू होते हैं। उन्हे कोई बनाता नही। इसमे जितना सत्य है, उतना ही सत्य इस कथन मे भी है कि अध्यापक और सम्पादक भी स्वयंभू होते है। उनको हमेशा यह अंत स्फूर्ति होती रहती है कि संसार को देने के लिए मेरे पास कुछ है। यदि मै वह संसार को नही दे दूंगा तो संसार डूब जायगा। जिसने अपने जीवन का पूरा विचार कर लिया हो, जिसके दिल मे यह बात पूरी तरह जम गई हो कि अपने सामाजिक जीवन के लिए मै जवाबदेह हूं, उसीमे वह वृत्ति उत्पन्न हो सकती है जिसका जिक्र लोकमान्य ने किया है।

वही शिक्षक स्वयंभू हो सकता है जो इस बात को समझ गया है कि शिक्षा जीवन भर के लिए है—वह जीवनव्यापिनी हो सकती है। शिक्षा के सिद्धान्त, शिक्षा के विषय और उसकी पद्धतियॉ ये सभी हमारे जीवन का विषय है—जीवन को सार्थ समृद्ध और सफल करने के लिए है। साथी-बाराती यदि वधू-वर को घर मे से निकाल दे तो कैसे काम चले? उसी प्रकार जीवन के प्रश्न को अलग रखकर यदि कोई शिक्षा देने का प्रयत्न करे तो

वह कैसे काम कर सकता है ? तथापि गत सौ-पचास वर्षों मे हम क्या करते आये हैं ? हमारे समाज-सेवको ने जीवन-चर्या में शिक्षा को प्रधान स्थान नही दिया । और हमारे शिक्षा-शास्त्रियो ने अपनी चर्चा मे जीवन-रहस्य को कही स्थान नही दिया । इसीलिए शिक्षा पर अनेक वालको का जीवन और धन का व्यय होने पर भी समाज शिक्षा मे अव तक दिलचस्पी नही ले रहा है और न स्वयं शिक्षा ही आनन्ददायक बन पाई है । फिर स्वयंभू शिक्षकों का समय देश मे कैसे आ सकता था ?

जिस काल को हम आधुनिक समय कहते हैं उसमे तीन-चार ऐसी हलचले हो गई है जिन्होने हमारे सामाजिक जीवन को जड़ से हिला दिया । उन हलचलो की धारायें इतने वेग से चढ़-दौड़ी कि लोगो के पैरो के नीचे किसी प्रकार का आधार नहीं रहा । इसका प्रभाव हमारे जीवन पर भी पड़ा, जिसे हम जीवन पर भली भांति देख सकते है। हमारे यहाॅ धार्मिक सुधारक पैदा हुए। उन्होने हमारे धार्मिक विचारो और धर्मजीवन का इतने जोरो से मंथन किया कि समाज को यह शंका हो गई कि हमारे पास हमारा अपना कुछ रहेगा भी, या नही । पर इस मंथन के परिणाम-स्वरूप स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ, घोष, गाॅधी जैसे धर्म-सुधारक पैदा हुए और उन्होने हिन्दूधर्म को नवीन चैतन्य प्रदान किया । इतना ही नही वल्कि समाज मे अत्यन्त गूढ और सूक्ष्म विचारो को फैलाकर उन्हे झेलने की शक्ति उसमे जागृत की । निद्रित समाज जब खड़बड़ा कर जाग उठा तब उन्होंने उसे मार्ग पर लगाने का काम किया ।

अब हमारे यहाॅ समाज-सुधारको की फसल आई । उन्होने

भी जातिव्यवस्था; वैवाहिकरूढियां, स्त्रियो का समाज में स्थान आदि प्रत्येक सामाजिक प्रश्न पर अपनी बुद्धि और तर्कशक्ति का हल चलाया। इस जोत के फलस्वरूप जाति-परिषदें हुई, पारस्परिक विरोध बढ़ा, पर अन्त मे सामाजिक जीवन जागृत हुआ और ये लोग भी समाज-शास्त्र पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने लगे।

देश मे राजनैतिक विचारो की क्रान्ति शुरू हुई और उसके फलस्वरूप राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई। समाज-सुधार और राजनैतिक-सुधार के बीच द्वंद्व छिड़ा। महासभा मे दलबन्दी हुई। राजनैतिक पुरुष और "लेभग्गू" वक्ता देश के कोने कोने मे जा पहुचे—अथवा यह कहना अधिक सार्थक होगा कि दौड आये। देश के प्रत्येक मनुष्य को उन्होने राजनैतिक परस्थिति और राजनैतिक सिद्धान्तो पर विचार करने मे लगा दिया। बडी बड़ी हलचलें खड़ी हुई और संसार के राजनैतिक विचारो मे हमने भी अपना हिस्सा अर्पित किया।

इन तीनो धाराओ में वीरता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है। धर्म-सुधारक धर्म के नाम पर मर मिटे है। समाज-सुधारक अपने ही देशबन्धुओ के तिरस्कार और जुल्म के शिकार हो गये और आज मृत्यु से भी अधिक विषम स्थिति मे दिन काट रहे है। राजनैतिक सुधारको के आत्म-बलिदान का तो कहना ही क्या? उनका जीवन तो सरकार के गुप्तचरो की शनिदृष्टि, कारावास, स्वदेश-निकाला, फांसी और सामाजिक बहिष्कार का मानो एक दीर्घ महोत्सव ही है। इन तीनो वीरो के दिल मे किसी समय यह विचार नही आया कि हमारा विषय लोगो को प्रिय होगा या

नही ? लोग हमारी बातो को सुनेंगे भी या नही ? इस चिंता ने भी इन्हे नही सताया कि हमारी हलचल के लिए चन्दा भी मिलेगा या नही ?

'लाइफ पॉलिसी' पर विधवा की तरह जीवन व्यतीत करने की इच्छा से स्थायी फंड की व्यवस्था करने के झंझट मे भी वे नही पड़े। उन्हे तो अपना उत्साह ही लिये जा रहा था। अपने काम के महत्व और स्थायित्व पर उनका पूरा विश्वास था। यह हो ही कैसे सकता है कि लोग हमारी बात नही सुनेंगे ? क्या लोगो को जीना ही नही है ? वे सो रहे होंगे तो उन्हे जगावेंगे, उठने से इनकार करेंगे तो उनकी चोटी खीचेंगे, नीद गहरी होगी तो आलपीन चुभाकर उठावेंगे। पर जबतक लोग हमारी बात नही सुन लेंगे तबतक न हम विश्रान्ति लेंगे न दूसरे को लेने देंगे। यह उनकी मान्यता थी और तदनुसार वे अपना जीवन व्यतीत करते आये है। उनकी तुलना मे शिक्षा-क्षेत्र मे हमने क्या किया है ?—स्वतंत्र रूप से क्या किया है ? प्रार्थना समाज और आर्य-समाज ने शिक्षा को कुछ सचालन दिया। समाज सुधारक शिक्षा को अपना सहायक समझ कर उसकी सहायता करते हैं और राजनैतिक पुरुष अपने आन्दोलन को गम्भीर स्वरूप देने तथा नौजवानो मे से नवीन भरती करने के लिए उसे राष्ट्रीय स्वरूप दे कर अपनी सेना मे शामिल कर लेते है। पर स्वयं शिक्षा-शास्त्रियो ने शिक्षा के लिए स्वतंत्र रूप से कितना प्रयत्न किया है ? यह तो हम कदापि नही कह सकते कि हमारे यहाँ समर्थ शिक्षा-शास्त्री हुए ही नही। बात यह है कि समस्त जीवन का विचार करने वाले लोगो ने शिक्षा को अपना प्रधान क्षेत्र ही नही समझा अथवा

शिक्षा-शास्त्रियो ने जीवन की दृष्टि से उस पर विचार ही नहीं किया। निःसन्देह शिक्षा-क्षेत्र मे नवीन उत्साह, नवीन वलवा अथवा पूरी पूरी नवीन क्रान्ति अभी तक हुई ही नही। अभी तक जनता के सामने शिक्षा का सन्देश, शिक्षा की स्मृति और शिक्षा का काव्य पेश ही नही हुआ है। हां, सरकारी शिक्षा-पद्धति तथा वेचारे देहाती पाठको की शिक्षा-शैली पर टीका करने वाले जरूर काफी पैदा हो गये। पर उनकी टीका इतनी ऊपरी और अज्ञान मूलक होती है, कि सिवा मामूली जन-मनरंजन के उसका कुछ उपयोग ही नही है। फिर इसमे कोई आश्चर्य की वात नही यदि लोग शिक्षा की शक्ति और प्रभाव के विषय मे अधिकांशतः अनजान हो। सब से भारी दुःख की वात तो यह है कि शिक्षा का जहाँ तहाँ प्रचार करने वाले शिक्षक तक यह नही जानते।

हमे जनता को यह दिखा देना चाहिए कि जहाँ धार्मिक सुधार निष्फल सिद्ध होते हैं, स्मृतियाँ कोई काम नहीं कर सकतीं, औद्योगिक आंदोलन थोथे सावित होते हैं; सामाजिक सुधार निष्प्राण प्रतीत होते हैं, और राजनैतिक आन्दोलन थक जाता है तहाँ अन्त मे शिक्षा ही सब की मैया सांझ है।

> अप वल तप वल और वाहुवल, चौथा वल है दाम।
> सूर किशोर कृपा से, सब वल, हारे हर को नाम॥

इस गीत के अनुसार हमे लोगो के दिल पर इस वात को अंकित कर देना चाहिए कि जहाँ आपके सभी उपाय हार जाते हैं तहाँ सच्ची शिक्षा-राष्ट्रीय शिक्षा ही समाज के लिए संजीवनी रूप सिद्ध होती है।

जव समाज-सुधारक जीवन की गम्भीरता को ही न समझें

समाज की मनोरंचना को ही नही जाने और जन-समाज अपनी जडता के कारण किसी बात पर विचार करने से भी इन्कार करे तब समाज मे नवचेतन कैसे उत्पन्न हो सकता है ? राजनैतिक आन्दोलन से जब तक स्वार्थ-त्याग नहीं होगा, एकता के लिए जिस प्रेम-भाव की आवश्यकता है वह नही विकसित होगा, और जन साधारण कष्ट झेलने के लिए तैयार न होगा तब तक स्वराज्य असंभव है। धार्मिक-सुधार भी तब तक नवीन झगडे का साधन ही बना रहता है, जब तक प्रजा आत्मा पर श्रद्धा न रखती हो और न हो उसमे पारमार्थिक जीवन की अभिलाषा। इस तरह जब चारों ओर से कठिनाइया दिखाई देती हैं और यह सवाल खड़ा होता है कि अब क्या किया जाय, तब यही एक मात्र उत्तर मिलता है कि प्रजा को प्राणदायिनी शिक्षा दीजिए। शिक्षा से ही राष्ट्र सञ्जीवित होगा, शिक्षा ही से जनता मे नवीन उत्साह आवेगा, शिक्षा से ही जनता जरा की केचुली उतार कर फेकेगी और उसमें जवानी का नया जोश आवेगा।

पर यह शिक्षा देने वालो को सामाजिक, धार्मिक, औद्योगिक और राष्ट्रीय हलचलो का रहस्य, इतिहास, उनकी खामियां आदि सब का ज्ञान होना जरूरी है। यह होने पर ही वे पर्वत शिखर-पर खड़े रह कर समाज को जागृत करने के लिए रण-भेरी बजा सकते है, तभी वे लोगो के हिताहित के सवाल खड़े करके उनको सचेत कर सकते हैं और उनका ध्यान तथा सहानुभूति अपनी तरफ आकर्षित कर सकते है। 'आराम ही आराम हमेशा के लिए हराम है' यह मैजनी का वाक्य शिक्षाकार के मुंह से ही समाज को श्रवण करना चाहिए। शिक्षा-शास्त्री ही समाज को सावधान कर

सकता है। वही आत्मोन्नति का सुमुहूर्त जनता को बता सकता है। आज शिक्षा-शास्त्रियों का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वे उस काम को जान ले कि जो उनके लिए ईश्वर ने निर्माण कर रक्खा है। उसे जान लेने पर अपने को उसके लायक बनाना उनका द्वितीय कर्त्तव्य है। वह योग्यता प्राप्त करने पर उस महाकार्य्य के लिए स्वात्मार्पण कर देना उनका तीसरा कर्त्तव्य है।

वृत्त-विवेचन
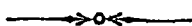
(१)

यथार्थतः देखा जाय तो सम्पादक शिक्षा-शास्त्री और धर्मोपदेशक इन तीनो का कार्य लगभग एक ही होता है। निद्रित प्रजा जब जागना चाहती है तब तो सम्पादक का कार्य असाधारणतया महत्वपूर्ण और उत्तरदायित्व पूर्ण हो जाता है। संपादक लोक-शिक्षण का आचार्य, ब्राह्मणो का ब्राह्मण, और चारणो का चारण है। जनता जब युयुत्सु बन जाती है तब सम्पादक को योद्धा और सेना-नायक भी बनना पड़ता है, और क्षात्र-धर्म का खूब विकास करना पड़ता है। जहाँ कही अन्याय हो रहा हो, दीन, दुर्बल और मूक वर्गों पर जुल्म हो रहा हो, तहाँ तहाँ वह अपने 'क्षतात्किल त्रायते' इस प्रतिज्ञा वाक्य को स्मरण कर दौड़ पड़ता है। जब कही ऐसा प्रसङ्ग नहीं होता तब वह किसी एक जगह सुविचार, ज्ञान, संस्कार, अभिरुचि और आदर्शों की प्याऊ लगाकर समाज सेवा करता रहता है। अज्ञान अथवा अदूर-दृष्टि के कारण जहाँ लोग झगड़ते हो, वहाँ वह अपनी 'ज्ञानांजन शलाकया' उनकी दृष्टि को शुद्ध करने का प्रयत्न करता है। समाज-चक्र के पहिये जब एक राग को भूल कर चीत्कार करते हैं तब वह उचित स्थान पर स्नेह डालकर उस घर्षण-ध्वनि को शांत कर देता है। और जब कभी सरकार वगैरह

से काम पड़ता है तब वह जनता का प्रतिनिधि बनकर लोकमत को स्थिर और दृढ़ बनाकर लोक-शक्ति को सचेत कर देता है। इस तरह लोक-सेवक, लोक-प्रतिनिधि, लोक-नायक और लोक-गुरु की चतुर्विध उपाधि अथवा पदवी का भाजन सम्पादक हो सकता है।

आज कल के वैश्य युग मे पत्र सम्पादको का एक बिलकुल जुदा ही आदर्श निर्माण होता जा रहा है और वह शिष्ट-सम्मत भी होता जा रहा है। "हमारे सामने धर्म की बात न कीजिए, हम तो केवल व्यवहार को जानते है, आदर्शों के तार-स्वर मे लोगों को गाने के लिए न कहियेगा,मध्यम अथवा मन्द स्वर मे जो गीत गाने योग्य हो वही गाने के लिए कहिए। हमसे साधुता अथवा वीरता की अपेक्षा न कीजिए। हानि—लाभ का हिसाब लगाने वाले कुटुम्बी को जो बाते पसन्द हो, अथवा फायदेमन्द हो वही कहिए। वास्तव मे संसार तो हमारा है। वीर और साधु तो समाज के लिए केवल शोभारूप हैं। वे तो पगड़ी के सिरो के जर के समान है, पगड़ी नही।" इस आदर्श को स्वीकार करने वाले लोग कहते है कि सम्पादक को व्यर्थ ही अपने आदर्श को ऊँचा नही बना लेना चाहिए। उसका आदर्श तो यही होना चाहिए कि लोग जिस बात को मांगे वही उनको वह दे। हम जनता के विद्यागुरु नही जो उसे मार-पीट कर पढ़ावे। हम तो उसके खिदमतगार है।

दुकानदार का आदर्श तो यही है कि ग्राहक जिस चीज को मांगे वह दे कर उसे संतुष्ट कर दे। राजा जिस राग को पसंद करे वही गा कर राजा को प्रसन्न कर देना गायक का आदर्श है। लोग हमारे शिष्य नही, सेठ हैं। वह गुमाश्ता कैसा जो अपने

सेठ को ही पढ़ाना चाहे ? वह दुकानदार भी कैसा जो ग्राहको को समय या धर्मशास्त्र का उपदेश देने लग जाय ?

जब यहाँ तक नौबत आती है तब इस दुकानदारी का ही ज्ञान आगे बढ़ता है। दुकानदार हमेशा इस बात का विचार नही करता कि ग्राहक को कैसा माल चाहिए। वह तो इस बात का विचार करता है कि अपने पास जो माल पड़ा हुआ है उसे किस तरह ऐसा बना लिया जाय जिससे ग्राहक उसे झट खरीद ले। ग्राहक को सेठ मानने के बजाय उसे वह अपना शिकार समझता है और संसार को नीचे की ओर ले जाता है। उत्तर-भारत मे आजकल क्या चल रहा है ? कितने ही पत्रकार झगड़ो के दलाल बन गये हैं। उन्होने झूठे गपोड़ो के कारखाने खोल रक्खे हैं। राष्ट्रीय आपत्ति और कौमी झगड़ो पर वे अपना व्यापार बढ़ाना चाहते है। लोकवार्ताओ मे एक मुख्य बकवादी पात्र होता है। उसी प्रकार ये पत्र-सम्पादक समाज के महा पिशुन बने फिरते है। शेक्सपियर के इयागो ने अथेल्लो और डेस्डेमोना की जो दशा कर डाली वही दशा वे इस सीधे सादे राष्ट्र की करने पर उतारु हो गये हैं। फर्क सिर्फ यही है कि इयागो अपने पेशे का स्वरूप और परिणामो को ठीक ठीक जानता था और जान बूझ कर नीचता कर रहा था। सो दशा सब की नही है। ये अभागे भाई तो स्वय भी विकारमत्त हो कर यादवस्थली के यादवो का अनुकरण कर रहे है।

संपादक की वृत्ति इतनी उच्छृंखल तो कदापि न होनी चाहिए कि जो कुछ भी खबर आई, उसे प्रकाशित कर दिया। खानदानी पुरुष के पेट मे कई बाते भरी रहती है। पर कितनी ही बातो को वह जबान तक भी नही लाता। संपादक को कार्यानन्द ढूंढना

चाहिए वादानन्द नही। नहीं तो इनका लेखनीयुद्ध एकबार शुरु होते ही सारे संसार का संहार ही करके शांत होगा। इङ्गलैंड में जब हलचलो अथवा चर्चाओ का अकाल होता है तब एक दूसरे पर अभद्र टीकाये कर के ही वे अपना परस्पर जीवन-यापन करते है। भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वाश्वानवद् गुर गुरायते।

सौभाग्यवश गुजरात के समाचार-पत्र शायद ही कभी सज्जनता की मर्यादा का उल्लंघन करते है। गुजरात के पत्रकार सौम्य है, झगडालु नही। यह कहा जा सकता है कि वे झगड़ो से दूर ही रहना चाहते हैं। इसीलिए समाज एक प्रकार की बुराई से मुक्त है। पर यह कहना कठिन है कि यह वाद-विमुखता गुण-रूप ही है। जब सामाजिक उत्तरदायित्व पहचानने वाली प्रखर समालोचना का अभाव होता है तब राष्ट्रीय हलचले और साहित्य के उद्यान म कांटो की झाड़ी वगैरह खूब बढ़ जाती है। प्रत्येक सुंदर आदर्श की निर्जीव नकले होने लगती हैं। रविवर्मा के चित्र जिस तरह दीयासलाई की डिब्बी पर चित्रित किये जा रहे हैं उसी प्रकार ख़राब से खराब नकले फैल कर असली चीज का गला घोट कर उसे मार डालती है। तू मुझे 'कालिदास' कह, मै तुझे 'भवभूति' कहूँगा इस तरह 'अहो रूपम् अहो ध्वनिः' शुरू होता है, और समाज मे आदर्श अपने स्थान को प्राप्त ही नही ही कर पाता। बस जहाँ देखिए तहाँ अल्पसंतोष। इसके कारण विचार-शुद्धि, भाषा-शुद्धि और कार्य-शुद्धि तो दूर रही, रचना-शुद्धि तक की रक्षा नही होती। यो मतभेद के कारण उत्पन्न होने वाली विविधता न तो अधिक होती और न बाधक ही होती है। पर आज तो जहाँ तहाँ सब दूर अनवस्था ही है।

हमारे पत्र प्रायः समाचार पत्र ही होते हैं। जनता के लाभ का विचार कर समस्त सन्सार की खबरें छापना सम्पादक का सर्व प्रथम कर्तव्य है। पर इस विषय मे—और यह अत्यंत महत्वपूर्ण विषय है—हमे दूसरो की आँखो से देखना पड़ता है। जिस तरह अंक केवल सरकार से ही प्राप्त हो सकते है उसी प्रकार खबरें भी केवल 'रूटर', या 'ऐसोशियेटेड' प्रेस से ही प्राप्त हो सकती हैं। वे हमे वे ही खबरें भेजते हैं, जो उनकी दृष्टि मे महत्व रखती है और शनैः शनैः वे अपनी यह दृष्टि भी हम पर लादते हैं कि किस वस्तु को कितना महत्व दिया जाय। शिक्षा और साहित्य की तरह ❀ वृत्त-विवेचन (Journalism) मे भी हम दूसरे के अनुयायी बन गये। इस से हमारे अंदर जो दास-मनोवृत्ति—'परप्रत्ययनेय बुद्धि'—उत्पन्न हो गई है वह अब तक नही जाती। आज हमारे यहाँ अनेक पक्ष हो गये हैं और विचार-प्रगति भी रुक गई है इस मे इस पर प्रत्ययनेय के अवलंबन का हाथ कम नही है। और

❀आश्चर्य का विषय है कि (Journalism) के लिए अभी हिंदी में कोई शब्द रूढ नही हुआ। इसके लिए ऐसे शब्द की आवश्यकता है जिसमें दैनिक से लेकर साप्ताहिक, मासिक और त्रयमासिक तथा वार्षिक तक सभी पत्रों का और उनमे छपने वाले अनेक समाचारो से लेकर गंभीर चर्चा तक का समावेश हो जाय। हमारे साहित्य में लोक-वृत्त ही एक ऐसा पुराना और विपुलार्थवाही शब्द है। इसमे प्रजा-जीवन के सभी अंगों का समावेश हो जाता है। इसलिए (Journalism) को लोक-वृत्त-विवेचन अथवा संक्षेप मे वृत्त-विवेचन कहा जा सकता है। जहाँ जहाँ (Journalism) प्रयोग होता है वहां वहाँ इस शब्द का अर्थ ठीक बैठता है।

सब से आश्चर्य की बात तो यह कि दास-मनोवृत्ति के खिलाफ पुकार सभी मचा रहे है। वृत्त-विवेचन का आधार है प्रामाणिक खबरे। उनका तन्त्र तो हमने खड़ा ही नही किया। अभी तो बुनियाद मे ही परावलंबन है।

जब मै अंगरेजी पढ़ रहा था तब मै चार आने वाला 'टाइम्स ऑफ इन्डिया' पढ़ने का प्रयत्न करता था। उसमे भारत की सभी खबरे पढने के बाद दिल मे सवाल उठता 'क्या भारत मे केवल अंगरेज़ ही रहते हैं?' सरकारी अधिकारी और गोरो के सार्वजनिक तथा सामाजिक जीवन की खबरे ही अधिकतया उस मे आती। मार-काट या दुर्घटना की कोई खबर आती तब मालूम होता कि इस सफेद पट के नीचे काला समुद्र है। अंगरेज़ी समाचार-पत्र अपनी दृष्टि से जिन खबरो को महत्वपूर्ण समझते है उन्ही को छापते है। इसमे कुछ भी आश्चर्य कारक अथवा अनुचित बात नही है। यदि हम अपने जीवन का विकाश करना चाहते है तो हमे भी ऐसी ही खबरे छापना चाहिए जो हमारी दृष्टि से महत्वपूर्ण हो। बंगाली लोग कुछ कुछ इस कला को जानने लगे है।

अपने वृत्त-विवेचन मे हम अंगरेजी पढ़ी लिखी जनता का ही प्राय विचार करते है। सरकार और उसके कार्य, विदेशो से व्यापार, अगरेजी शिक्षा, अदालते, साहित्य-शास्त्रियो का साहित्य, और पढ़े-लिखे लोगो के सुख-दु ख यही हमारे वृत्त-विवेचन के मुख्य विपय होते हैं। भारत की जनता, भारत के उद्यम और कारीगर, किसानो का जीवन तथा देहात् की दशा, धर्म-प्रचार, गरीबो का गृह-जीवन, पिछड़ी हुई जातियो की दयनीय जीवन-

यापन-चेष्टा आदि राष्ट्रीय जीवन के प्रधान प्रश्नो को आवश्यक प्राधान्य हम देते ही नही। स्थानीय समाचार पत्र का एक भी सुंदर नमूना हमारे सामने नहीं है। हमारे सवाददाता देहात् मे कभी जाते ही नही। सच्ची स्थिति तो यह होनी चाहिए कि प्रत्येक समाचार-पत्र देहात् के रहने वालो मे से कुछ जिम्मेदार सम्वाद दाता ढूँढ़ ले। उनको उस कक्षा मे शांतिपूर्वक तैयार करे, और प्रत्येक समाचार-पत्र ग्रामीण जीवन की चर्चा मे दिलचस्पी ले। हमारी सभाओ मे जिस तरह शहरवासी उच्चासन पर बैठते हैं और विचारे ग्रामीण प्रतिनिधि अपने स्वाभाविक विनयानुसार दूर किसी कोने मे अपना स्थान गृहण कर लेते है उसी प्रकार हमारे समाचार-पत्रो मे भी लोक-जीवन के लिए कही एकाध कोना रहा तो रहा नहीं तो हरीच्छा। ग्रामवासी जब आत्मनिंदा छोड़-कर अपने अन्दर स्वाभिमान और आत्मप्रत्यय का विकास करेंगे तभी यह स्थिति सुधरेगी। पर समाचार-पत्र इस काम को शुरु-आत करके उनकी सहायता तो जरूर कर सकते है। रेलवे कम्पनी वाले भले ही तीसरे दर्जे के मुसाफिरो की उपेक्षा करे पर समाचार-पत्र-सम्पादक उन देहातो की उपेक्षा नही कर सकते जहाँ उनके पत्र की फी सैकड़ा ४० प्रतियां बिकती है। प्रतिष्ठित और जिम्मे-दार पत्र इसमे लापरवाही करेंगे, तो उनकी कुशल भी नही है। प्रजा मे अस्मि-ता (आत्म-जागृति) आ रही है यह देखकर कितने ही त्वरित-दृष्टि सम्पादक अपढ़ वर्गों की खुशामद करके उनको मनमाने रास्ते पर ले जावेंगे और अपनी प्रतिष्ठा जमावेगे तब सच्ची लोक-शक्ति के ये उत्तरदायित्व-शून्य नेता देश मे कौन कौन उत्पात नहीं खड़ा करेंगे? फलत. प्रतिष्ठित नेताओ को भी अत मे ऐसे लोगो की बात को

मानना पड़ेगा और उनके साथ समझौता करना होगा । अज्ञान जनता यदि उत्तरदायित्वशून्य लोगो के पीछे हो जाय तो कहना होगा कि हमारे आन्दोलन को मार गिराने के लिए सरकार के हाथ एक रामबाण उपाय लग गया । अंग्रेज़-सरकार को लोकमत से परिचित करने और इंग्लैंड की जनता में भारत की स्थिति के विषय मे प्रचारान्दोलन करने में हमने जो एक जमाना गँवा दिया यदि उसे ही हम भारत की ग्राम-निवासी जनता को जागृत और शिक्षित करने मे लगाते तो हम अब तक स्वराज्य मे कभी के पहुंच जाते । सच्चे काम का आरम्भ कष्ट-दायक और धीमा भले ही हो, प्रारंभिक मंदता असह्य भलेही हो, पर यो औसतन देखा जाय, तो मालूम होगा कि सच्चे काम ही जल्दी फूलते-फलते हैं । अब भी यदि हमारी आंखे खुल जायँ तो देरी नही हुई है । किसान, जुलाहे, मजदूर, स्त्रियां और कारकूनो की स्थिति का महत्व समझ कर, उनकी दुर्दशा दूर करने के लिए, उनको सुशिक्षित करने के ख्याल से, उनकी समस्याओ पर विचार करने का व्रत सम्पादको को ले लेना चाहिए । समाज-सुधार और धर्म-संस्करण जैसे महत्व-पूर्ण विषयो पर भी हमने अब तक मध्यम-वर्ग को ख्याल मे रख-कर ही विवेचन किया है ।

सम्पादक ज्यो ज्यो ग्रामीण जीवन के विषय मे अपने पत्रो मे अधिकाधिक चर्चा चलावेंगे, त्यो त्यो, प्रचारक, उपदेशक, नेता और विचारक लोग देहात् मे भ्रमण करना अपना धर्म समझने लगेंगे । पर इसके लिए सम्पादको के लेख स्थानीयता के रंग से रगे हुए होने चाहिए। स्थानीय अध्ययन और स्थानीय भाव उनमे पूरा-पूरा होना जरूरी है । सम्पादकीय सिहासन पर बैठकर गोल-मोल

सर्व सामान्य सिद्धान्तो पर लेख लिखने से काम नही चलेगा।

यदि ठीक पूरी तैयारी के साथ इस काम को किया जाय तो इसमे कभी कोई घटी नही उठावेगा। कितने ही संपादकों ने लोगो को खुश करने वाले और बोधशून्य मनोरंजन करने वाले लेख लिख लिख कर जनता की अभिरुचि को बिगाड़ रक्खा है। अन्यथा अपने हिताहित की दिलचस्पी के साथ चर्चा और विचार करने वाले वृत्त-विवेचन को जनता अवश्य ही पूरी कीमत दे कर खरीदती। सम्पादक समाचारपत्र-सम्पादन को अपनी जेब गरम करने का पेशा तो कदापि न बनावे। इन्साफ के लिए, धर्म के लिए, लोक-कल्याण के लिए कभी कभी सम्पादको को लोकमत के विरुद्ध भी जाना पड़ता है। परकीय अत्याचार का वर्णन और निषेध लोकप्रिय हो सकता है पर जब हम सामाजिक अन्याय और कुरीतियो का विरोध करते है, तब लोग चिढ़ जाते हैं खुशामद के आदी पाठक और लेखक ऐसा वीर कर्म करने ही क्यो चले ? किसी महा अन्याय के विरुद्ध अभिमन्यु जैसा कोई वीर अकेले हाथो लड रहा हो तो पत्रकारो को उसकी सहायता के लिए दौड पड़ना चाहिए। कई बार एक प्रतिष्ठित वर्ग प्रतिष्ठा रहित किन्तु सुयोग्य पुरुष को दबाने का खूब प्रयत्न करता है। सम्पादक यदि निर्भीक हो वो प्रतिष्ठित वर्ग का बहिष्कार कर उसकी योग्यता की कदर करता है।

जो बात व्यक्ति के विषय मे ठीक है वही संस्था के विषय मे कही जा सकती है। अत. सम्पादक का यह भी कर्तव्य है कि वह देश की सच्ची सेवा करने वाली संस्थाओ के स्वरूप को पहचान कर उनका परिचय लोगो को करावे तथा उन पर कड़ी नजर रक्खे

जिससे वे काहिल न बन जायँ। वृत्त-विवेचन के सभी कर्तव्य इसी एक बात मे समाविष्ट हो जाते है कि देश मे जहां जहाँ कही सार्वजनिक प्रत्यक्ष कार्य हो रहा हो उसकी सहायता करे। वृत्त-विवेचन यदि अपने कर्तव्य ठीक ठीक अदा करता चला जाय तो उसकी शक्ति इतनी बढ़ सकती है कि जिस प्रकार सरकार और विद्यापीठ योग्यता की उपाधियां वितरण करते हैं वैसे ही वह भी करने लग जाय। और फिर इस लोकमान्यता के सामने राजधन्यता एक तुच्छ वस्तु हो जाय।

किसी भी विशाल और नवीन प्रश्न को हाथो मे लेना हो तो पहले मासिक पत्र उसका विवेचन करे, उसके बाद साप्ताहिक पत्र। ठीक क्रम तो यही है। ऐसा करने से विषय गलत रास्ते पर नही जाता और काम भी नही बिगड़ता। दैनिक पत्र तो प्रचलित हलचल पर ही लिखे। यह मर्यादा आवश्यक है। हमारे यहां दैनिक पत्रो का सम्पादक-मंडल विशाल नही होता। कई बार राजा, मंत्री और सेना-नायक सभी एक ही होता है। फिर नित्य नवीन लेख तो पैदा करना ही चाहिए। इस दशा मे समाज को यदि अपक्क विचार परोसे जायॅ तो हलचल को हानि पहुॅचना अवश्यम्भावी है। हमारे यहां के विद्या-व्यासंगी लोगो ने पत्रो को नियमित रूप से सहायता करने की प्रथा अभी शुरू ही नही की। प्रत्येक पत्र के लिए भिन्न भिन्न क्षेत्रो मे विशेषज्ञता रखने वाले विद्वानो का एक विशाल मंडल हो, जो निरपेक्ष भाव से हमेशा उसकी सेवा करता रहे। तभी हमारा वृत्त-विवेचन समृद्ध हो सकता है। भगिनी निवेदिता और दीनबन्धु एण्ड्रयूज जैसे व्यक्ति अनेक पत्रो की सहायता करते थे और अब भी कर रहे है। उसी प्रकार हमारे पास ऐसे

कई विद्वान् हैं, जिनके नामो का उल्लेख किया जा सकता है। कितने ही अपने लेखो के द्वारा सहायता तो करते ही है। पर इतनी दिलचस्पी लेने वाले लोग तो बहुत थोड़े है, जो सूचनाये भी करते रहे।

इस आक्षेप के विपक्ष मे यह एक दलील पेश की जा सकती है कि सम्पादको मे इतना विनय कहाँ है जो वे बुजुर्गों के वचनो का सम्मान करे जो हम उन्हे अपनी सलाह दे ? सच देखा जाय तो सलाहकार आग्रही सास बनना चाहे तो इससे भी काम नही चल सकता। इधर सम्पादको का पंडितमन्य होना भी अक्षम्य है। हमारे सामाजिक जीवन की तरह सार्वजनिक जीवन भी बिगड़ गया है। संघ-शक्ति से काम करने के नियम अभी तक हमारे गले नही उतरे। नीति के बंधन शिथिल करने, अभिरुचि के आदर्श को नीचे घसीटने, और हर प्रकार के स्वच्छंद को रूढ़ करने मे अभी तक समाचारपत्रो ने किसी बात को नही उठा रक्खा है। जहाँ देखिए तहाँ नये पत्र शुरू होते है। थोड़ी देर जीवन-संघर्ष मे झगड़ते है और ग्रॅज्यूएट के विद्या-व्यासंग की भांति थोड़े ही दिनो मे अस्त हो जाते है। स्वतंत्र मौलिक कल्पनाओ का तो अकाल हुई है। पर फिर भी प्रतिभा का दावा करने वाला आडम्बर युक्त साहित्य इतना बढ़ गया है कि "साहित्य संरक्षक मंडल" स्थापन करने का समय आ पहुँचा है।

(३)

सम्पादक दो प्रकार के होते है। कितने ही अपने पत्र द्वारा साहित्य की जितनी सेवा होती है उसीमे संतोष मान लेते हैं। मोतीलाल घोष, रामानंद चट्टोपाध्याय और नटराजन इस वर्ग के

नमूने है। अन्य प्रत्यक्ष देशकार्य करते समय अपने विचार प्रगट करने के लिए पत्र चलाते है। गांधीजी, देश-बन्धु, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक ये इस वर्ग के प्रतिनिधि है। पहले वर्ग के सम्पादक विविधता के उपासक होते हैं। प्रत्येक का कोई खास विषय तो होता ही है पर उसके अतिरिक्त भी वे सर्वांगी विचार-प्रचार के हिमायती होते हैं। दूसरे वर्ग के सम्पादक स्वयं कार्य-परायण होने के कारण एकाग्रता लाने की शक्ति भर कोशिश करते है। दोनो का उपयोग है। पर इन दोनो आदर्शो को मिला देना उचित नही है। यदि पहले वर्ग के सम्पादक चाहे तो अपने पत्र को संस्कृति का केन्द्र बनाकर एक संप्रदाय अथवा बन्धु-समाज तैयार कर सकते है। प्राचीन समय मे मंदिरो का जो स्थान था वही स्थान आधुनिक पत्र प्राप्त कर सकते है। दूसरे प्रकार के संपादक निश्चल देश-सेवको की एक विशेष सेना तैयार कर सकते है।

सम्पादको का एक तीसरा वर्ग भी है। उसका काम है तनख्वाह ले कर हर किसी मत का प्रचार करना। अमेरिकन निग्रो लोगो की एक पाठशाला मे लड़को के पालको ने शिक्षक से पूछा "पृथ्वी गोलाकार है ऐसा आप बच्चो को पढ़ाते है या चौरस ?" उसने उत्तर दिया इस बात मे मेरा कोई आग्रह नही है। आपकी टाउन कौन्सिल बहुमत से जो निश्चित कर देगी वही मै पढ़ाने के लिए मै तैयार हूं। ऐसे लोगो के हाथ से क्या समाज-सेवा होती होगी सो विधाता ही जाने।

पत्रकारो के अतिरिक्त एक और भी नये वर्ग की समाज में आवश्यकता है। अपने अपने क्षेत्र मे जो जो प्रवृत्ति चल रही हो,

साहित्य प्रकट हो रहा हो, नवीन आविष्कार हुए हो, निर्णय हुए हो, वाद उत्पन्न हुए हो, नवीन नवीन नमूने वनाये गये हो, उन सब का वार्षिक संग्रह करने का काम भी किसी को शुरू कर देना चाहिए। सामाजिक जीवन मे ऐसे कितने ही उपांग हैं, जिनके लिए साप्ताहिक तो ठीक पर मासिक भी नहीं चलाये जा सकते। तथापि यदि यहाँ वहाँ किसी पत्र मे उस विषय पर कुछ खवरे या सामग्री छपे और वह जहाँ तहाँ विखरी हुई यो ही व्यर्थ पड़ी रहे सो ठीक नही। इन बातो का वार्षिक वृत्त-प्रकाशित करने वाला यदि कोई हो तो लेखक-वर्ग उसीके पास अपनी सामग्री भेज दिया करे।

हमारे यहाँ एक ऐसे मासिक की भी जरूरत है जो सभी नये पुराने ग्रन्थो का संक्षेप मे परिचय कराता रहे। यह मासिक विद्यार्थी और सामान्य जनता के लिए वड़ा ही उपयोगी सावित होगा। साहित्य का इतिहास लिखने मे तो इसका अमूल्य उपयोग हो सकता है। मेजिनी की साहित्य सेवा का आरंभ ऐसे ही प्रयत्न से हुआ था। ऐसे मासिको मे केवल एक ही भाषा के साहित्य का ही परिचय न हो। हाँ, किसी एक भाषा के साहित्य को प्रधानता दे कर भारत की भिन्न भिन्न भाषाओं के साहित्य को भी यथावकाश स्थान अवश्य ही दिया जाय।

सामान्यत पाठक यदि समाचार-पत्र और मासिको को छोड़कर और कोई चीज पढ़ते है तो केवल उपन्यास। जब तक उनकी यह स्थिति रहेगी तब तक कम से कम लोक-शिक्षा की दृष्टि से सारे संसार की जानकारी उसके पूर्वापर संवंध के साथ पाठको को देने की व्यवस्था भी कर देना अत्यावश्यक

है। संसार कहाँ कहाँ तक फैला हुआ है, कहाँ क्या हो रहा है, प्रत्येक देश की दशा और दु ख क्या है, और कहाँ तक संसार की प्रगति हुई है, इसकी जानकारी हमारे पाठको को रहना परमावश्यक है। इसमे भी हम अधिकांश मे तो परावलंबी ही रहेंगे। पर यह अपरिहार्य है। इसलिए हमारी दृष्टि से प्रत्येक वस्तु का प्रभाव और महत्व निश्चत करके लोक-शिक्षा का काम तो हम को शुरू कर ही देना चाहिए।

तीस करोड़ गुलामों के देश मे हमारा वृत्त-विवेचन अधिकांश मे अंग्रेजी ही मे चल रहा है। समर्थ लेखक अंग्रेजी की तरफ ही दौड़ते हैं। यह कितनी लज्जा की वात है कि जिसके लिए यह सव प्रयास हो रहा है उसे इस तमाम प्रयास के फल से वंचित रहना पडता है। किसी का ध्यान इस वात की तरफ आकर्षित नहीं होता। यदि बलात् आकर्षित किया भी जाता है तो जॅचती नहीं। इससे भी कही अधिक लज्जास्पद दशा हो सकती है ?

देशी भाषओ मे जितने समाचार-पत्र प्रकाशित हो रहे हैं उनमे ऐसे वहुत कम हैं जो पूरी तैयारी के साथ प्रकाशित हो रहे है। सम्पादको के लिए जिन बातो को जानना जरूरी है ऐसी वातो से भरी हुई एक भी किताव हमारी भाषाओ मे नहीं दिखाई देती। 'इण्डियन इयर वुक', 'ऐन्यूअ न रजिस्टर', 'हू इज हू', 'पियर्स सायक्लोपीडिया', 'कमर्शियल ऐटलास' 'हेंडबुक ऑफ कमर्शियल इन्फरमेशन', जैसी सर्वोपयोगी सादी कितावें तक हमारी देशी भाषाओ मे तैयार नही हुई। इसलिए तथा अध्ययन के अभाव के कारण देशी भाषाओ के पत्र अंग्रेजी समाचार-पत्रो के निरे स्याहीचट वन गये है।

जहां इतनी भी प्राथमिक तैयारी नही है, वहाँ फलां विषय पर या फलां बिना पर अधिकारयुक्त जानकारी प्राप्त करने के लिए सम्वाददाता भेजने तथा समाचार-पत्रो की ओर से जांच-समितियां नियुक्त करने की बात भी कैसे की जा सकती है ?

वृत्त-विवेचन पर जीने वाला तथा उसका पोषण करने की डीग हॉकने वाला एक महारोग है—विज्ञापनबाजी । सार्वजनिक नीति को कलुषित करने वाली तथा कौटुम्बिक अर्थ-शास्त्र पर भीषण चोट पहुँचाने वाली यह बुराई इतनी फैल गई है कि गांधीजी के 'नवजीवन' द्वारा उसका इतना सख्त और सक्रिय विरोध होने पर भी अन्य पत्रो पर उसका कुछ भी प्रभाव नही दृष्टि-गोचर होता । समाचार-पत्रो मे हीन विज्ञापनो को देखकर दिल में विचार होता है कि परमात्मा की सेवा के लिए एक उत्तम देवालय बांध कर उसका खर्च चलाने के लिए यदि उसके आहते के कमरे शराब और वैश्याओं की दूकानो के लिए किराये पर उठा दिये जांय तो ठीक होगा ?

(४)

सम्पादन कला अथवा वृत्त-विवेचन हमारे यहाँ यूरोप से आया है । जबतक बालक स्वयं चरित्र-गठन और आदर्शों का निर्माण नही कर पाते तब तक जिस तरह वे अपने माता-पिता का ही अनुकरण करते है, ठीक उसी तरह हमने भी अब तक यूरोप के 'जर्नीलिज्म' का अनुकरण किया है । अमेरिकन ढंग अख्तियार करने के भी प्रयत्न हो रहे है । क्या अभी अनुकरण का जमाना समाप्त नही हुआ ? क्या अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करने योग्य हमारे राष्ट्र के पास कुछ हई नही ? यदि हमारे पास सांस्का-

रिक व्यक्तित्व हो, यदि हम मे अस्मिता जागृत हो गई हो, तो उसे पहचानने, विकास करने और प्रकट करने का समय क्या अब तक नही आया ? हमारा प्रश्न केवल राजनैतिक नहीं है। यदि केवल राजनैतिक होता तो कभी का उसे हमनें हल कर लिया होता। जिस प्रकार संसार के सभी धर्म इस देश मे इकट्ठे हुए हैं उसी प्रकार संसार के सभी जटिल प्रश्न भी यहाँ एकत्र होना चाहते हैं—हो गये हैं। जो कुछ रह गये होंगे वे भी आ मिलेंगे। जब चारो तरफ से पानी का प्रवाह दौडता आता है तब लोग अपने को वचाने के लिए किसी ऊँचे टीले की ओर दौडते हैं। उसी प्रकार ससार के सभी सवाल—धर्म धर्म के वीच के, जाति जाति के वीच के, सामाजिक, आर्थिक, शिक्षाविषयक—सभी इस देश मे इकट्ठे हो गये हैं, और उनकी चर्चा करने की जिम्मेदारी संपादको के सिर पर सवार हो गई है। सम्पादक अवश्य ही कोई भारी विचारक होता हो सो नहीं। तथापि उसका कर्त्तव्य है कि प्रत्येक प्रश्न के स्वरूप और गंभीरता को वह ठीक ठीक समझ ले, श्रेष्ठ श्रेष्ठ विचारको ने उस पर जो उपाय वताये हो उनका सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन करे। उसके वाद यथाशक्ति यथा-मति उस प्रश्न को देश के सामने पेश करे। हमारे जीवन, इतिहास, धर्म और समाज रचनाये इसी दिशा मे जो कुछ उपयोगी हो उसे जाँचकर उसे भी संसार के सामने विचारार्थ पेश कर दे।

यह काम आसान नही है। दीर्घ वाचन से मनुष्य मे विद्वत्ता आ जाती है। पर विना शुद्ध और उच्च जीवन के दिव्य दृष्टि और अटल श्रद्धा नही मिलती। पर आज कल का जमाना ही ऐसा है कि प्रत्येक को यह कोशिश करनी चाहिए कि वह जितना

ऊपर चढ सकता हो चढ़ जाय। शैतान ने आक्रमण शुरू कर दिया है। उसे पराजित करने के लिए देव सेना को सज्ज हो जाना चाहिए। इस अवस्था मे संपादक अपना स्थान कहाँ ग्रहण करेंगे यही।विकट सवाल आज उनके सामने है।

विचार-कलिका

कला शौक और मौज की चीज नहीं है। वह मनुष्य के स्वभाव का परिचय देती है। मनुष्य को अपने कार्य मे और जीवन में कितना और कैसा आनन्द मिलता है इसका निर्णय उसकी कलाओ पर से होता है।

कला के मानी हैं प्रेम से, आनन्द से, और प्रसन्नता से किया हुआ काम। विना प्रसन्नता के कला उत्पन्न ही नही हो सकती।

मन्दिर, मसजिद और तालाव आदि पर से सम्पूर्ण समाज की संस्कृति का हमे पता चल जाता है।

किसी भी समाज की गृह-रचना देख कर उसकी मनोरचना को जान लेना बिलकुल आसान है।

मनुष्य भाषा द्वारा अपना हृदय छिपा सकता है, परन्तु कला मे प्रतारणा (चालाकी) के लिए स्थान ही नही है।

वाणी, तो विचार और भाव का परोक्ष वाहन है पर सङ्गीत और कला तो इनके प्रत्यक्ष सार्वभौम वाहन हैं।

वर्णी, विचार की भाषा। कला, हृदय की भाषा। आचार, धार्मिकता की भाषा।

... ...

यही समझ लेना बड़ी भारी कला है कि मनुष्य को किस तरह जीना चाहिए।

.. ..

मोक्ष प्राप्त कर लेना यह उच्चतम कला है। उच्च कला द्वारा कलातीत होना हमारा ध्येय है।

.. ..

एक लेखक ने कहा है, 'मुझे कविता करने की इजाजत दे दीजिए, फिर आप भले ही कानून बनाइए।' इसी तरह यो भी कहा जा सकता है कि, 'लोगो की कला-विषयक अभिरुचि मेरे हाथो मे सौप दीजिए, फिर आप भले ही समाज को नीति के पाठ पढ़ाते रहिए।'

.. . . ..

जिस तरह पैर मे कॉटा, धोती मे चिडचिटा और दॉत मे किनका सहे नही जाते, उसी तरह भाषा मे ग्राम्यता, (भद्दापन) हृदय मे शङ्का और जीवन मे कला-विहीनता अथवा नीरसता कदापि सहन न होनी चाहिए।

.. .

यदि हम इस वात को मानते है कि अनुचित रीति से वर्ताव करने मे शिष्ट जनो की अप्रतिष्ठा होती है, तो हमे यह भी मानना चाहिए कि ऐसी वस्तुओ के रखने से भी कुटुम्ब और मिहमानो की अप्रतिष्ठा होती है जो घर मे न शोभती हो।

... .

जिस तरह मनुष्य की पहिचान उसके बर्ताव से होती है उसी तरह बरतन-भांडे, कुर्सियां और चौकी आदि पर से भी होती है ।

. . ..

दीवान-खाने में कला-कौशल्य की चीजें और घर मे एल्यु-मिनियम के मैले बरतन, सभा मे जाते समय सुन्दर पोशाक और घर मे तेली का वेष, बोलने मे साधु की भाषा और हृदय में हलाहल विष, ये सभी अतृप्त जीवन के लक्षण हैं ।

.. . .

क्या जर्मनी के रङ्ग और इस्तरी के कपड़े काम में लेने वाले समाज मे कभी कोई कवि 'क्षौमं केनचिदिन्दुपांडु तरुणा ' जैसा श्लोक लिख सकता है ?

...

किसी वस्तु को इसलिए मत काम मे लाओ कि वह सुन्दर है । वरन काम मे लेने की वस्तु सुन्दर देख कर लो अथवा उसे सुन्दर बना लो ।

. ...

जीवन मे निर्धनता से दु ख या हानि नही, परन्तु नीरसता का सहन होना यही महा हानि है ।

. ..

कुरुचि के सम्मुख हुल्लड़ मचाने से केवल हमारी कुरुचि प्रकट होती है । स्वारस्य तो इसीमे है कि हम स्वयं सुरुचि का पाठ पढ़ाना शुरू कर दे । संसार मे कुरुचि इसीलिए रह सकती है कि संसार का प्रत्येक मनुष्य थोड़ा बहुत डरता है ।

. . . . . .

सहिष्णुता और कायरता इन दोनो में उतना ही अंतर है जितना समाधि और मृत्यु के बीच है। दोनो मे समानता केवल वाहर ही से दीखती है।

.. . .

बहुतेरे कवि फूल मे भी मानवी भावना देख सकते हैं तो कितने ही कवि मनुष्य से फूल का सौन्दर्य देखते हैं।

... .

कला की उपासना मे अहङ्कार का लय करना कला का एक महान् आनन्द है—*विगलितवेद्यान्तर परमानन्दम्।

.. ...

परिचित वस्तु को देख कर होने वाला आनन्द तो सच्चा आनन्द है। अपरिचितपन—विचित्रता का आनन्द प्रौढ़ नही होता, चिरस्थायी नही होता।

.. ..

जैसे कविता के लिए छन्द (वृत्त) है वैसे ही कला के लिए शिष्ट-सङ्केत।

. ...

क्या जीवन मे और क्या कला मे, अनुकरण मृत्यु के समान ही है?

विना उपासना के किसी कला को अवगत या हस्तगत करने की आशा करना व्यर्थ है।

... ...

कला कही अनायास प्राप्त होने वाली चीज नही हैं। उसके लिए तपस्या करनी चाहिए, और पवित्रता के साथ उसकी उपासना करनी चाहिए।

---

* जिसमें और कुछ भी जानना बाकी न रह जाय, यही महान् आनन्द है।

श्रद्धा और शुश्रूषा बिना कला का रहस्य समझना और अनुभव करना अशक्य है।

. .. . ..

सौन्दर्योपासना और विलास मे स्वर्ग और नरक जितना अन्तर है।

.. ..

जिस तरह मोक्ष के मार्ग में सिद्धि-विघ्न-रूप है, उसी तरह कला की प्राप्ति मे विलासिता है।

.

मरोड़दार अक्षर बनाने की कला नष्टप्राय हो गई है। दुख है कि इस यान्त्रिक युग मे समाज की एक एक कला का नाश होता जा रहा है।

. ... .

कविता और चित्र मे भी केवल भाव से काम नही चल सकता, बोध भी होना ही चाहिए।

. . ..

नीति-शिक्षण और कला का शिक्षण आरम्भ मे बचपन से देना इष्ट और हितकारी है। और वह कृति द्वारा परिपूर्ण होना चाहिए। उनके तत्व पीछे से धीरे-धीरे आप ही आप प्रकट होते हैं अथवा प्रकट किये जा सकते है।

.

जिस तरह पिता कन्या का कन्यादान करने तक प्रेम पूर्वक पालन-पोषण करता है और उसे दे देने के बाद भी उसके भविष्य की चिन्ता रखता है, उसी तरह कलाधर को कलायुक्त वस्तु का निर्माण करके जब तक वह योग्य मनुष्य के हाथ मे नही सौपी जाती तब तक उसकी रक्षा तो करनी ही चाहिए, पर इसके बाद

भी उसे उस वस्तु की चिन्ता करनी चाहिए। कलाधर और उस की कृति का सम्बन्ध दूकानदार और ग्राहक का न होना चाहिए।

... .

यदि कलाधर कलाद्वारा योग-क्षेम (अन्न-वस्त्र) की इच्छा करे तो कोई हर्ज नहीं, परन्तु कला को बेच कर धनवान् होने का प्रयत्न करना निन्दनीय है।

... .

कलाधर को किसी का नौकर न बनना चाहिए।

... ...

जिनका जीवन परस्पर ओत-प्रोत है उन्ही के साथ सहयोग धर्म-सङ्गत और इष्ट है। दूसरी तरह का सहकार प्राण-घातक है। कला के विषय मे यह अक्षरश. सत्य है।

... .

क्या समाज की उन्नति या अवनति इस पर निभर नहीं है कि श्रेय और प्रेय के झगड़े के बीच मे हमारे समाज-नेता या कलाधर अपनी शक्ति को किस ओर लगाते है ?

.. . .

कलाधर और कारीगर इन दोनो का विभक्त न करो। यदि वैसा करोगे तो कलाधर की कला विकसित न हो पावेगी और कारीगर की कुशलता का लय हो जायगा।

.. . . .

चित्रकार, शिल्पकार, गायक अथवा कवि को पुरस्कार मात्र दे देने से कला की उन्नति नही होगी। समाज को चाहिए कि वह कला को अपने हृदय मे, कुटुम्ब मे, समाज मे और मन्दिर मे स्थान दे। अपने जीवन मे, कला की प्रतिष्ठा कीजिए तो कलाधर आप ही उत्पन्न होने लगेगे।

सच्चा कलाधर कला का सञ्चारक (मिशनरी) होता है। कञ्जूस बन कर योग्य मनुष्य से वह कुछ भी छिपाये नही रखता।

• ••• • •••

कलाकार मानता है कि दृश्य सृष्टि भासमान है। पर आदर्श-सृष्टि—ध्येय सृष्टि सत्य है। तत्वज्ञान भी यही कहता आया है।

•• • •••

कल्पना-तरङ्ग दो प्रकार के हैं। प्राणवान् और हत-प्राण अथवा अल्पप्राण। कवि अथवा चित्रकार पवित्र हो तो प्राणवान् भावनाये उसके हृदय मे प्रवेश करती हैं, प्राणवान् विचारो के फुव्वारे उसकी कलम मे से या कूंची मे से उड़ने लगते हैं, और समाज चैतन्य से हिलने लगता है। यदि चित्रकार या कवि विलासी होगा तो समाज को हतप्राण कल्पनाओं का नशा चढ़ जायगा और समाज विपैला बन जायगा। और यदि कवि या चित्रकार स्वयं ही अल्प-प्राण होगा तो उसकी निर्माल्य कविता अथवा कृति उसी जगह मरण-शरण हो जायगी।

• ••

प्रकृति इन्द्रियातीत आनन्द का विषयोपभोग द्वारा अनुभव करने का प्रयत्न करती है। कला इन्द्रियातीत आनन्द को विषय-वासना से दूषित न करके उसे शुद्ध स्वरूप मे अनुभव करने का प्रयत्न करती है।

••

यथाथदर्शी कला, कला ही नही कही जाती। विषय-मुग्ध हो कर जो विलास एकान्त मे किया जाता है यदि वही सर्वसाधारण से प्रकट मे होने लगे तो जितनी लज्जा आती है, उतनी ही लज्जा यथार्थदर्शी कला को देखने मे आनी चाहिए। जिस चित्र को

देखने से मन मे उपभोग के विषय की कल्पना आती है वह अपवित्र है। ऐसे चित्र कुछ वर्ष पहले राजवाड़ो के अन्त:पुरो मे भी नहीं टांगे जाते थे। संयम-विमुख पाश्चात्य कल्पना के कारण आज कल ऐसे चित्र प्रतिष्ठित गृहस्थो के दीवानखानों में भी दिखाई देने लगे है। इससे बढ़कर अध पात का दूसरा संगीन प्रमाण क्या हो सकता है ?

... .. .

अरे, यह संसार या तो परदा-नशीन हो गया है या नाटकी बन गया है ? जिसको देखा जाय वही बुरका पहन कर या वेश बदल कर घूमता हुआ दिखाई देता है। मानो हर किसी को सत्य की लाज आती है। इनकी भाषा देखिए, इनकी रीति-भाँति देखिए, इनके उत्सव देखिए, इनकी पोशाक देखिए या इनके दीवा-नखाने देखिए—सत्य तो कही खोजने पर भी नही मिलता। आज तो सत्य केवल ढँक ही गया है। परन्तु शीघ्र ही वह तो दम घुटकर भी मर जायगा। दौड़ो रे दौड़ो, कोई सत्य की रक्षा करो !

वन्देमातरम्

हमने छोटेपन मे पञ्चायतन के स्तोत्र सीखे थे। उनमे माताजी के स्तोत्रारम्भ मे जव प्रथम मन्त्र 'नमो देव्यै' वाले श्लोक आते थे, तब हमारे मन मे आदर और भय उत्पन्न होते थे।

स्वदेशी की हलचल चली और नया मन्त्र आ कर कान मे टकराया—'वन्देमातरम्' दोनो का भाव तो एक ही है, किन्तु चित्त मे मूर्ति न्यारी ही खड़ी हुई। वन्देमातरम् के साथ की माता के उपकार-सम्बन्धिनी बचपन में पढी हुई कविता स्मरण आने लगी। माँ खाने की चीजे पास मे ले कर वैठी है, एक बालक आता है, दूसरा पीछे की ओर से आ कर गले मे लिपटता है, तीसरा साडी का अचल पकड कर खींचता है, एक बालिका माता के लम्बे किये हुए पैर पर आसन जमा कर वैठी है, और दो चार वच्चे माँ के मना करने पर भी उसकी परवा न करके माता से दूर भागते है और एक दूसरे के साथ लडते है, इस तरह का चित्र चित्त मे खडा रहता था।

इतने मे बङ्गाल से राष्ट्र गीत आया.—

सुजलाम्, सुफलाम्, मलयज शीतलाम्,
सप्तकोटि-कण्ठकलकल निनाद-कराले,
वहुवल धारणीम्, रिपुदलवारिणीम्॥

'नमो देव्यै' वाली अष्टभुजा 'महिषासुरमर्दिनी' के समान ही यह चित्र था। केवल महिषासुर के बदले हमारे समान दीखने वाले मनुष्य रिपु-दल का संहार करने वाली और काल्पनिक खर-कर-वाल हाथ मे धारण करने वाली वह माता थी।

पाश्चात्य देशाभिमान की कल्पनाये ज्यो ज्यो मन मे पैठती गई, त्यो त्यो माता की मूर्ति अधिकाधिक उग्र होने लगी। माता के शरीर पर के आभूषण कम होने लगे। माता का वस्त्र लगभग फटा हुआ दीखने लगा। माता मेरा रक्षण करने वाली है, बचपन का यह भाव उड़ गया, और मुझे माता का रक्षण करना चाहिए, इस तरह का प्रौढ़ किन्तु अभिमानी भाव चित्त मे आने लगा, और माता की करुण-दृष्टि से शत्रु का बदला लेने की प्रेरणा मिलने लगी।

आज वह मूर्ति कहाँ गई? वह अष्टभुजा महिषासुरमर्दिनी भी ध्यान मे नही आती, और न वह रिपु-दल वारिणी दशप्रहरण-धारिणी माता ही रही। आज तो 'आसेतु हिमाचल' बिछी हुई सुजला, सुफला और मलयजशीतला माता ही का मानचित्र दृष्टि के सम्मुख खड़ा होता है। यह माता सुजला है, परन्तु बालको को उस जल के लिए कर देना पड़ता है, सुफला है, किन्तु वे फल माता के बालको को नही मिलते, और उस 'शीतल मलयज' में प्लेग, इन्फ्लुएञ्जा के असंख्य जन्तु क्षुधातुर हो कर इधर-उधर दौड़ते और वृद्धि पाते दिखाई देते हैं। आँसुओ के जल से इन माता के चरण धोने को जी चाहता है। शरीर अर्पण कर के इस माता की सेवा करने की आज प्रेरणा होती है। सम्पूर्ण देह का धूप बना कर सर्वत्र शीतल मलयज फैलाने को चित्त चाहता है।

परन्तु *'जाह्नवीयमुनाविगलित-करुणा-पुण्य-पीयूष' से माता नया ही ख़याल देती है। माता कहती है, तुम मुझे अनेक नामो से सम्बोधित करते हो, पर मुझे तो माता यही नाम प्रिय है। क्योंकि माता शब्द मे मेरे बालको का समावेश होता है। देवी कह कर तुम मेरे प्रकाश और प्रताप का स्मरण करते हो, बहुबलधारिणी कह कर तुम मेरा अभिमान धारण करते हो, परन्तु माता कह कर तुम मेरे सभी बच्चो का प्रेम प्राप्त करते हो। वन्देमातरम् इस वचन मे जितनी मातृ-भक्ति है उतना ही भ्रातृ-प्रेम है, भगिनी-प्रेम है। तुम मेरी क्या सेवा कर सकते हो? भाई भाई सुख से रहो, प्रेम से रहो, एक दूसरे की सहायता करो, एक दूसरे के सुख-दु ख से सुखी और दुखी होओ। बस, इतने ही मे मुझे सब-कुछ मिल गया। यही मेरी श्रेष्ठ पूजा है। वन्देमातरम् का अर्थ है 'सेवे भ्रातरम्' तुम इतना समझ जाओगे तो मेरा वरद हस्त तुम्हें सभी ज्ञान देगा। और तुम देख सकोगे और जान जाओगे कि मै अकेली ही माता हूँ, मेरा स्वरूप गूढ़ और विशाल है और तुम जितने बालक दिखते हो, वे मेरी ही सन्ताने है, तुम सभी सहोदर हो।

अन्त मे वन्देमातरम् मन्त्र को प्रथम बार सुन कर जिस मूर्ति का दर्शन हुआ था, वही सच्चा है और माता को प्रिय है। हां, पर वह चित्र आदर्श तभी होगा जब सभी बालक माता को पहॅचानेगे और सहोदर धर्म का पालन करेगे।

---

* गङ्गा और यमुना के संगम से बहा हुआ दया रूपी पवित्र अमृत।

धर्म-भूमि

भारतवर्ष को हम अभिमान पूर्वक धर्म-भूमि कहते है। संसार के तमाम धर्म इस देश में वसते हैं। कितने ही धर्मों को इस भूमि ने जन्म दिया है। अन्य कितनो ही को आश्रय दिया है। और कितनो ही ने तो स्वयं ही अपने लिए इस भूमि मे स्थान प्राप्त कर लिया। इसलिए भारतवर्ष के लिए धर्म-भूमि नाम चरितार्थ हो गया।

परमात्मा ने किस उद्देश्य से इन तमाम धर्मों को इसी देश मे इकट्ठा किया है ? इतिहास द्वारा परमात्मा की योजना का पता लगाने से ज्ञात होता है कि इस देश को उसका यही आदेश है कि यह सभी धर्मों का समन्वय करे, सभी धर्मों को एक कौटुम्बिक पाश मे बाँध दे। इतिहास से हमे यह भी ज्ञात होता है कि जब जब और जिस अंश मे हिन्दुस्तान इस आदेश के प्रति वफादार रहा है तभी तब और उतने ही अंशो मे उसकी उन्नति भी हुई है। भारतवर्ष का पुरुषार्थ इसीमे है कि वह सब धर्मों को एकत्र अविरोधी और परस्पर पोषक बना दे। जब जब उसने अपने इस पुरुषार्थ को भुला दिया, तभी तब उसे कष्ट सहने पड़े है। कई बार तो अपार शांति के कारण हमने अपने इस कर्तव्य को भुला दिया और कई बार विकारवश होकर हमने उसे छोड़ दिया। धर्मों का और जातियो का सवाल हज़ारो वर्षों से हमारे सामने है। अनेक रीति से उसे हल करने का हमने प्रयत्न

किया है। पर केवल एक ही मार्ग हमे उचित जँचा है। प्रेम-मार्ग। हमने कईबार वैर का सामना वैर से भी किया है। पर प्रत्येक बार क्षमा और प्रेम पर विश्वास रखने वाली आस्तिकता ही सफल साबित हुई है।

मुसलमान यहाँ पर आये उस समय भारतवर्ष की जाति सस्था छिन्न-भिन्न हो गई थी। प्राण क्षीण हो गया था। इसलिए हम उस धर्म का यथार्थ स्वागत नहीं कर सके। वे भी हमें नही समझ सके। मुसलमानो का स्वभाव हम से भिन्न था रहन सहन भी भिन्न थे। और आग्रह विलक्षण। केवल यही देख कर हमने यह तय कर लिया कि उनके साथ किस तरह व्यवहार किया जाय? फलत. गलत फहमी हुई, युद्ध छिड़े, और रण-मैदान पर एक दूसरे को हमने पहचाना। कहना होगा कि इस युद्ध में दोनों की भारी हार हुई। आखिरकार परमात्मा की इच्छा के सामने सिर झुकाकर हम दोनो ने एक साथ रहने का निश्चय किया। हिंदू और मुसलमान दोनो इस बात को जान गये कि कोई भी जाति दूसरी जाति का नाश नही कर सकती। अत सवाल यही रहा कि अब दोनो को हमेशा के लिए इसी तरह लडते रहना चाहिए, या भाई भाई बनकर और हिलमिलकर। हिंदू-मुसलमानो के बीच भाईचारा करने के प्रयत्न शुरू से होते आ रहे हैं। पर समस्त जनता तक फैलने मे उन्हे बड़ी देरी लगी। फलतः अन्त मे जो एकता हुई उसमे एक भारी दोष रह गया। एक-दूसरे का पूरा परिचय तो हुआ ही नही था। अत एकता दृढ़ नहीं हो पाई। धर्म तथा सामाजिक कल्याण के विपय मे दोनो के बीच भिन्न भिन्न कल्पनाये होते हुए भी हमने इस वृत्ति और शास्त्र

का विकास ही नही किया कि एकतापूर्वक किस तरह रहा जाय । इसीलिए आज हमे इतना कष्ट सहना पड़ रहा है और हिंदू-मुसमान एकता का सवाल जो पहले हल हो चुका था फिर उलझन मे पड़ गया है ।

राष्ट्र की आत्मा कहती है, एकता का तत्व-एकता का शास्त्र तो अहिंसा है । एक दूसरे के दोषो को सह लेना, आपत्ति मे एक दूसरे की सहायता करना और प्रेम-धर्म के लिए सभी प्रकार के स्वार्थों को तिलांजली देना यही एकता का एक मात्र मार्ग है ।

आजकल की नास्तिक शिक्षा के युग मे, जब कि प्रेम की अपेक्षा अधिकारो का ही अधिक विचार होता है, जब कि समाज-व्यवस्थापक का काम कानून और अदालतो ने अपने हाथो मे ले रक्खा है, और वकील जनता के सलाहकार बने बैठे है,—इस युग मे 'तिलांजलि देना,' 'सहन करना,' 'दिल उदार रखना' आदि शब्द समुच्चय दुर्बलता अथवा लोकोत्तर सद्गुण के द्योतक समझे जाते है । पर सच पूछा जाय तो समाज का अस्तित्व स्वार्थ और विग्रह पर स्थित नही है ।

अगर हम फिर बाहमी मारकाट और युद्ध छेड़ देंगे तो हमें पुन. वही पुराना अनुभव महँगे मोल खरीदना पड़ेगा—दोनो जातियाँ क्षीण होगी । कौल-करार के द्वारा विग्रह को शान्त करने का प्रयत्न यदि हम करेंगे तो उसमे भी हमारी निश्चित रूप से निष्फलता होगी । संसार का अनुभव तो यह है कि कौल-करार करने के आरंभ के समय की स्थिति इकरार पक्के होने तक भी नहीं टिकती । पारस्परिक विश्वास और प्रेम-भाव से ही एकता की ग्रन्थि बांधी जा सकती है । और वही टिकी रहेगी ।

जब तक हिन्दू और मुसलमानो मे अविश्वास रहेगा तब तक इस बात का हिसाब जरूर होता रहेगा कि विपक्षी जाति के पास मनुष्य-बल कितना है ? प्रत्येक पक्ष अपना बल बढ़ाने अथवा बढ़ गया है यह बताने की कोशिश बराबर करता रहेगा। भारतवर्ष में हिन्दुओ की अपेक्षा मुसलमानो की संख्या बहुत ही कम है। अतः यदि अविश्वास के वायुमण्डल मे वे हिन्दूओ से डरे तो यह बात समझ मे आने योग्य है। डरने वाला यदि व्यवहार-कुशल होता है, तो अपने डर को छिपाने के लिए वह सीना-जोरी का कवच जरूर पहन लेता है। अतः ऐसी परिस्थिति मे एक दूसरे के विपक्ष मे सगठन करना एकता का सच्चा उपाय नही कहा जा सकता। बल्कि ठीक तो यही होगा कि प्रतिपक्षी को अपनी ओर से निर्भय कर दिया जाय। यदि हिन्दू और मुसलमान दोनो इस बात को समझ ले कि राष्ट्रीय व्यवहार मे दोनो जातियो के हित-सम्बन्ध एक है तो वे हर तरह संख्या बढ़ाने की तकलीफ नहीं उठावेगे। हमे जो धर्मतत्व प्राप्त हुए है, वे यदि हमे सर्वोच्च प्रतीत होते है, तो यह स्वाभाविक है कि उन्हे दूसरो को अर्पण करने की हमे इच्छा हो। पर यह तो है एक परोपकार का काम। भला इसमे हम जबरदस्ती से कैसे काम ले सकते हैं ? शुद्ध भाव से यदि हम सभी धर्मों के मूल तत्व जनता के सामने रक्खे तो इस मे जरा भी अनौचित्य नही। पर हां, इसके लिए वायुमण्डल का शुद्ध और शान्त होना जरूरी है। यदि ऐसा वातावरण न हो तो हमारा पहला काम है वायुमडल को शान्त और शुद्ध कर लेना। धर्म का पवित्र बीज प्रेम के शुद्ध क्षेत्र मे ही बोया जा सकता है। धर्म मे जबरदस्ती से कभी नही

काम लेना चाहिए। हिन्दू-धर्म के साथ साथ कुराने शेरीफ मे भी इस बात का स्पष्टतया उल्लेख किया है। धार्मिक अज्ञान और जातिगत अहंकार के कारण वायुमण्डल मे जो विष फैला हुआ है उसके नष्ट हो जाने पर ही हम इस बात को देख सकेगे कि हमारे हित-सम्बन्ध एक ही है। हिन्दुओ के तमाम हित-सम्बन्ध मुसलमानो के हाथो मे और मुसलमानो के हित-सम्बन्ध हिन्दुओ के हाथो मे सुरक्षित है। यह नही कि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच अथवा स्थानीय कारणो की वजह से कभी कोई बखेड़ा नही होगा। पर जब दोनो जातियो का हृदय निर्मल हो जायगा, तब प्रत्येक जाति के नेता उस पर अपना प्रभाव डाल कर निर्भयता-पूर्वक अपनी जाति को उसका कर्त्तव्य स्पष्टतया समझा सकेगे। तब थोड़े ही प्रयास से हम तमाम झगडो को शीघ्र मिटा सकेगे। यदि जाति कोई भूल कर रही हो या प्रेम की मॉग को पूरी करने मे हिचकिचाहट दिखा रही हो तब उसके नेता मे इतनी हिम्मत और अधिकार होना चाहिए कि वह उसे सख्त रीति से झिड़के और उसे कर्त्तव्य-मार्ग पर ले आवे। विपक्षी जाति का तो यही कर्त्तव्य है कि जब तक प्रतिपक्षी जाति मे से अविश्वास पूर्ण-रूप से नही उठ जाता तब तक किसी बात को उठा न रक्खे। जब किसी वस्तु का त्याग हम दुर्बलता-पूर्वक करते है तब हमारी दुर्बलता और भी अधिक बढ़ जाती है। पर विश्वास-पूर्वक प्रेम-जात उदरता से किये हुए त्याग ने आज तक किसी को दुर्बल नही बनाया। प्रेम की शिक्षा प्रतिपक्षी को नही अपने आपको दी जाती है, और उस पर अमल किया जाता है।

पर यदि अन्त में बन्धु-प्रेम की विजय न हो तब? यह शंका

नास्तिकता की निशानी है। इस शंका पर जो समाज-शास्त्र या राजनीति निर्भर हैं वह विनाश-मार्ग की पथिक है। एक यह प्रश्न भी खडा होता है कि प्रतिपक्षी यदि सीनाजोरी या दुराग्रह करे तब उसके सामने सिर झुकाना क्या दुर्बलता नही मानी जायगी? पर प्रेम यह कभी नही कहता कि जुल्म के सामने सिर झुकाया जाय। प्रेम-धर्म तो यही कहता है कि जुल्म के साथ प्रेम-पूर्वक जूझो, स्वार्थ और लाभ का जहॉ सवाल हो तहाँ उदारता-पूर्वक त्याग करना सीखो। जहॉ जबरदस्ती हो रही हो वहॉ उसका उत्तर बल प्रयोग-द्वारा मत दो। जिन बातो का डर बताया जा रहा है, उनको शान्ति-पूर्वक सह लो। निर्भय हो कर उनका आह्वान करो। भय छोड़ कर निर्भय बन जाना, और प्रेम से उदारता का विकास करना यही एक मात्र अत्यन्त व्यवहार्य और सरल से सरल तथा तात्कालिक उपाय है।

भारतवर्ष को हम अभिमान-पूर्वक धर्म-भूमि कहते हैं। पर वह केवल हिन्दूधर्म की धर्म-भूमि नहीं है। तमाम धर्मों की—धार्मिकता की भूमि है। यदि परमात्मा की योजना हो कि जिस प्रकार इस भूमि मे इन धर्मों को आश्रय मिला है, उसी प्रकार उसी भूमि से उनको पोषण भी मिले तो इस मे कोई आश्चर्य नही समझना चाहिए।

राष्ट्र-पूजा-धर्म

मनुष्यो मे परस्पर-विरोधी वृत्तियाँ रहती है। मनुष्य सन्त भी है और असन्त भी। मनुष्य के जीवन मे इन दोनो वृत्तियो का विरोध है। किसी दिन संत-वृत्ति विजयी होती है तो किसी दिन असन्त-वृत्ति वलवती सिद्ध होती है। परन्तु जब असन्त-वृत्ति अपनी सारी चतुराई खर्च करके व्यवस्थित (organised) योजना पूर्वक काम लेती है तव सन्त-वृत्ति के लिए विजय प्राप्त करना कठिन हो जाता है। एक धनवान् सेठ नीति-अनीति विधि-निषेधो को तलाक देकर केवल कानून न समझे जाने वाले सभी मार्गों का अवलम्बन करता हुआ द्रव्य कमाने की कितनी बड़ी आयोजना (organisation) करता हुआ दिखाई देता है। किन्तु यही मनुष्य अपने सामाजिक-ऋण चुकाने अथवा हृदय मे प्रसङ्गोपात्र झांकने वाले दयाभाव को सन्तुष्ट करने के लिएं कितनी परवा करता है? वह गरीबो के पास नही जाता। इतना ही नहीं, वरन गरीब आवे तो उन्हे रोकने के लिए दरवाजे पर पहरेदार रखता है। हां, चित्त को सन्तुष्ट करने के लिए पींजरा-पोल में कितने ही जानवरो की हड्डी और चमड़े जीते रखने के लिए या अनाथाश्रम के लडको को अन्न-वस्त्र देने के लिए हजार-दो-हजार रुपये खर्च कर जरूर अपने को कृतकृत्य समझ लेता है, और अपनी इस भलाई को संसार की नजर मे लाने के लिए सभी तरह की युक्तियो की योजना करता है। यह हुई व्यक्ति

की स्थिति। जब ऐसे व्यक्ति अपना गुट बना लेते है तब तो स्वार्थ की आयोजना और भी बढ़ती है और बेचारे परमार्थ को दूर भागकर अपने लिए एक कोना खोजना पड़ता है। देश जब धर्म-पराङ्मुख होता है तब उसकी भी यही दशा होती है। सर्वत्र यही ख्याल फैल जाता है कि न्याय, धर्म अथवा दया तो व्यक्ति के लिए है, राष्ट्र को तो हमेशा अपना स्वार्थ—दूर देशी स्वार्थ सिद्ध करने मे ही दत्तचित रहना चाहिए। यही उसका धर्म है।

जिस समय संसार मे स्वेच्छाचारी राजाओ की तूती बोलती थी उस समय राजा ही इस स्वार्थ का प्रतिनिधि था, और प्रजा तो केवल अपनी वफादारी बताने भर के लिए उसमे शरीक होती थी। आज ससार मे प्रजा की तूती बोल रही है इसलिए उसीके लिए स्वार्थ ने प्रजाओ को घेरा है और राष्ट्र-पूजा-धर्म आरम्भ हुआ है। प्रजा की स्वार्थ-वृत्ति सङ्गठित होगई है और न्याय तथा दया की वृत्ति यहाँ-वहाँ मारी मारी फिर रही है। लोगो की स्वाभाविक वृत्ति और सङ्गठित स्वार्थ इन दोनो के बीच मे तात्विक भेद दिखा कर कविवर रवीन्द्रनाथ ने प्रजा और राष्ट्र (People और Nation) ऐसे दो भेद कल्पित किये हैं। अपने स्वार्थ को व्यवस्थित रीति से साधने के लिए प्रजा ने पार्लिमेट या लोक-सभा की सृष्टि की। उसकी आज्ञाओ का पालन करने के लिए एक पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाला कर्मचारीगण उत्पन्न किया। और इसके फल-स्वरूप आज यह योजना इतनी सर्व-भक्षक हो गई है, कि उसके नीचे स्वयं प्रजा ही पीसी जा रही है। रवीन्द्रनाथ कहते हैं—"प्रजायें तो सजीव प्राणी है, परन्तु राष्ट्र तो एक भारी यन्त्र मात्र है। यन्त्र जिस काम के लिए बनाया जाता है उतना ही काम वह तो

सफाई से कर देता है। यन्त्र के हृदय नहीं होता। प्रजा ने अपनी सत्ता और महत्ता बढ़ाने के लिए यह राष्ट्र-रूपी यंत्र को निर्माण तो किया किन्तु उस यन्त्र के लिए कोई 'ब्रेक' नहीं बनाया। इससे यह निरकुंश यन्त्र प्रजाओ को जहाँ और जिधर खीच ले जाय वही वे खीची जा रही हैं। इस यन्त्र की सफाई और काबलियत देखकर यूरोप के लोग उस पर इतने अधिक मोहित हो गये हैं कि उन्होने उसे ठेठ ईश्वर के स्थान पर स्थापन कर देने में भी आना-कानी नही की। इसीलिए आज यूरोप मे सर्वत्र 'राष्ट्र-पूजा-धर्म' फैला हुआ है। 'राष्ट्रात् परतरं नहि' यह आज यूरोप का आचारसूत्र (working faith) हो गया है। न्याय, नीति, दया और धर्म सब राष्ट्र के लाभ की दृष्टि से ही किया जाय। मनुष्य अपने जान-माल सर्वस्व की कुरबानी करे, पर राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए, ईश्वर के नाम पर नही।

यूरोप की सभी प्रजाये इस धर्म को मानती हैं, पर उसे साफ-साफ स्वीकार करने की हिम्मत और ढिठाई तो अकेले जर्मनी ही ने दिखाई। जर्मनी मे इस 'राष्ट्र-पूजा-धर्म' का प्रचार करने वाला अध्वर्यु ट्रीट्स्के था। अंग्रेज भले ही उसकी चाहे जितनी निंदा करे परन्तु यही सम्पूर्ण यूरोप का प्रतिनिधि है। वह साफ कहता कि 'ख्रिस्त की नीति केवल व्यक्ति के लिए ठीक है। राष्ट्र समस्त पर कोई नियन्त्रण नही लगा सकता। यह सत्ता किसी को नही। राष्ट्र सर्वोपरि है। राष्ट्र के चरणो मे बलिदान देना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है।' जिस प्रकार हमारे देश मे अहङ्कार का बलिदान देने के बदले मे बकरे का बलिदान देने की सुलभ पद्धति मनुष्यो ने खोज निकाली है, उसी प्रकार यूरोपवासियो ने

अपने राष्ट्रदेव को सन्तुष्ट करने के लिए आफ्रिका, अमेरिका और एशियाखण्ड के निवासियों का वलिदान देने की प्रथा का आरम्भ कर दिया है। अमेरिका के ताम्रवर्ण मनुष्यों का तो अक्षरशः वलिदान किया गया, क्योंकि वे दूसरी तरह उनकी अधीनता स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। आफ्रिका मे सिद्दियो के व्यक्तिगत स्वातंत्र्य का वलिदान देकर यूरोपियनो ने अपने राष्ट्रदेव को संतुष्ट किया। और एशिया मे प्रसन्नता-पूर्वक यूरोप की अधीनता का स्वीकार करने वाली प्रजा को देख कर उन्होंने उस पर अपने राष्ट्र की सत्ता को प्रस्थापित किया। राष्ट्रदेव दो प्रकार की पूजा मांगते हैं। व्यापार और अधिकार। इस सर्व भक्षि देव के सामने वलि देने के लिए जव और कुछ वाकी न रह जायगा तव यूरोपियन प्रजा को ही वह खाये विना नही रहेगा, यह सिद्ध है। हिन्दुस्तान इस राष्ट्रदेव की भूख का शिकार हो जाने के कारण ही रवीन्द्रनाथ के समान दिव्य दृष्टि वाले भारतीय राष्ट्रदेव का माहात्म्य समझ सके है। 'आत्मैव ह्यात्मनो वन्धु' इस सनातन सिद्धांत पर उनकी अटल श्रद्धा है। परन्तु उन्नीसवी शताब्दि के अन्त मे यूरोप के भावि विनाश का चित्र इस विश्व-प्रेमी कवि के सम्मुख खडा हुआ। यूरोप के भयानक संहार को देख कर कवि-हृदय थर्रा उठा। हिन्दुस्तान की परम्परागत करुणा रवीन्द्रनाथ मे मूर्त्तिमती हुई। हिन्दुस्तान को अपना गुरुपद स्मरण हो आया और रवीन्द्रनाथ ने इस ऋषि-वाणी का सन्देश पश्चिम को पहुँचाया कि—

वर्धत्यधर्मेण नरस्तो भद्राणि पश्यति।
तत. सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

'अराष्ट्रीय' प्रजाएं यदि आज कुछ अभय है तो उसका श्रेय

यूरोप की धर्म-बुद्धि को नहीं; परन्तु यूरोप की राष्ट्रीय प्रजाओ की पारस्परिक ईर्ष्या और असूया को है ।

हम अभी तक यूरोप का उत्कर्ष ही देखते आये है । यूरोप की विजय की ईर्ष्या और अपने अपमान की जलन के कारण हिन्दुस्थान की धर्म-श्रद्धा आज डगमगाति हुई मालूम होती है । 'धर्मो रक्षति रक्षित' यह वचन हिन्दुस्थान की दृष्टि से सिद्धान्त मिट कर केवल संसार के आश्वासन का वचन होता जा रहा है । राष्ट्रीय स्वार्थ की आसुरी प्रतिस्पर्धा मे हम भी उतरेगे तभी हम जी सकते है, तभी अपने अपमान की क्षति-पूर्ति हो सकती है, ऐसा उन्माद हमारे अदर सचार करता जा रहा है । 'धर्मो धारयते' प्रजा.' इस श्रद्धा का विसर्जन करके हिन्दुस्थान 'राष्ट्रदेवो भव' इस ध्यान मन्त्र को स्वीकार करता जा रहा है । 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' 'अतिथिदेवो भव' 'आचार्यदेवो भव' आदि पुराने मन्त्रो की भावना ही से यदि यह 'राष्ट्रदेवो भव' का नया मन्त्र स्वीकार किया जा रहा हो तब तो कोई हर्ज नही । माता-पिता, गुरु और अतिथि के प्रति आदर-भाव रक्खो । उनकी पूजा करो, उनके सन्मुख अपने स्वार्थ और अभिमान को ज़रा भी न प्रकट करो इत्यादि जिस तरह हमारे धर्म है, उसी तरह राष्ट्र-हित के सम्मुख भी किसी भी मनुष्य को अपने स्वार्थ का विचार तक नही रखना चाहिए । अपने स्वार्थ का विचार इसी तरह करना चाहिए जिससे राष्ट्र-हित मे वाधा न पड़े और जब राष्ट्र को आवश्यकता हो तब अपनी जान और माल को भी कुरवानी करने को तैयार रहना चाहिए, यह भावना हो तो वह अवश्य पवित्र है । यदि राष्ट्रदेवो-भव का यह अर्थ हो कि हम अपने देश मे श्रद्धा

रखें, हमारे राष्ट्र की शक्ति और उसके भविष्य मे अटल निष्ठा रखे, जाति-जाति के बीच या समूह-समूह के बीच मे जब अनबन या कटुता खडी हो तब हमारा राज्य-स्वराज्य हमे अवश्य न्याय देगा ऐसा विश्वास रक्खे तो वह यथार्थ है और हमे प्रिय है। देश को देवी स्वरूप मानने की प्रथा बहुत पुरानी है । 'अहं राष्ट्री संगमनी' आदि सूक्त मे यही माना गया है। जगन्माता ही राष्ट्र-रूप धारण किये हुए है और इसीलिए हिन्दुओ के खून मे यह भावना भरी है कि धर्म के पालन से देश की सेवा अनायास ही हो जाती है। ज्ञाताओ को इसका ख्याल भी होगा, सर्व-साधारण मे वह अज्ञात भाव से बसती होगी। आज का युग-धर्म पहचान कर उसे प्रजा के सम्मुख स्पष्ट रूप मे रखने के लिए 'राष्ट्रदेवो भव' इस मन्त्र की गर्जना हो रही हो तो वह अभीष्ट ही है। किन्तु इस मन्त्र के पीछे आजकल ऊपर बतलाई हुई शुद्ध स्वदेशी भावना ही है, ऐसा निश्चय नहीं होता। आज हिन्दुस्थान को अश्रद्धा ने घेरा है। लोग यो मानने लग गये है कि ईश्वर की अपेक्षा पाश्चात्य नीति बलवत्तरा है। भ्रमरी-कीटक न्याय यदि कही सच्चा हुआ तो वह यही हमारे देश मे। हमलोगों में पाश्चात्यो की शक्ति के सम्बन्ध मे जो डर घुस गया है उसीके कारण हम स्वधर्म को छोड़कर उनके समान बनते जा रहे है। यदि हमे देश को निर्भय करना है, यदि हमारे प्रयत्नो की दिशा देश के उद्धार की ओर है, धर्म-संस्थापन हमारा लक्ष्य है, तो आज पाश्चात्यो के इस राष्ट्र-पूजा-धर्म के आसुरी स्वरूप से हमे सावधान हो जाना चाहिए। इस राष्ट्र-पूजा-धर्म ने पाश्चात्य प्रजाओ को किस तरह घेरा है, इसके कारण वे किस तरह प्रभु-पराङ्मुख हो गई हैं और किस

तरह खुद विनाश के मुख मे घुसी जा रही हैं, इसकी मीमांसा करना और इसका रहस्य जान लेना उन लोगो के लिए समय पर जान लेना बहुत फायदेमन्द है जो अभी उसके प्रवाह मे नहीं वह गये है ।

रामराज्य या साम्राज्य ?

स्वराज्य क्या है ?—वह स्थिति कि जिसके अन्दर दूसरा कोई हम पर अत्याचार न कर सके। इस व्याख्या को तो सभी स्वीकार करेंगे, और ऐसी व्याख्या लोक-प्रिय भी होगी। परन्तु कुछ ही विचार करने पर हम देख सकेंगे कि यही बात हम दूसरी भाषा में भी रख सकते हैं, और वह इस तरह। 'स्वराज्य "वह स्थिति है कि जिसके अन्दर हम दूसरे किसी पर अत्याचार न कर सकें" इस व्याख्या और उपर्युक्त व्याख्या के बीच सिवा शब्द-भेद के और कोई अन्तर नहीं। फिर भी बहुतेरे ऐसे निकलेंगे जो इस दूसरी व्याख्या को उत्साहपूर्वक पसन्द नहीं करेंगे, ज्यादा से ज्यादा वे उसे अप्रिय सत्य के समान स्वीकार करेंगे। यदि स्वराज्य इष्ट हो तो वह सभी के लिए इष्ट होना चाहिए। और यदि ऐसा है और यदि हम चाहते हैं कि हम पर कोई अत्याचार न कर सके, तो हमें यह भी ख्याल रखना चाहिए कि हम दूसरे किसी पर अत्याचार न करें। क्योंकि सच्चा स्वराज्य वही होगा जब कोई किसी पर अत्याचार न कर सके।

बहुतेरों का यह कथन है दूसरे किसी में इतनी शक्ति नहीं रहनी चाहिए, कि वे हम पर अत्याचार कर सकें। परन्तु हमें कभी इतना कमजोर नहीं होना चाहिए कि जिससे हम दूसरे पर अत्या-

चार न कर सके। यही साम्राज्यवाद का मूल है। यह नहीं कि मनुष्य शुरू से ही ऐसी वृत्ति धारण कर लेता है कि वह दूसरे के ऊपर अत्याचार कर सके। परन्तु वह कहता है. 'लोगों को मेरे अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए मेरी धर्म-बुद्धि और न्याय-बुद्धि पर विश्वास रखना चाहिए। किन्तु मैं स्वयं दूसरे के अत्याचार से सुरक्षित रहने के लिए दूसरे की न्याय-बुद्धि पर नहीं वरन अपनी शक्ति ही पर आधार रक्खूंगा।' यह वृत्ति धर्मिष्ठ नहीं। धर्म के सिद्धांत तो सभी के लिए समान होते हैं

आज तक शक्ति मे समानता नही हुई और न किसी समय होगी ही। फर्ज कीजिए कि किसी शहर में एक संक्रामक रोग हो गया है और उसमे सभी लोग रोगी हो कर चारपाइयो पर पडे हुए हैं। जिस तरह उस समय कोई किसी की कुछ हानि नही कर सकता, न कोई किसी को लूट सकता है, उसी तरह सार्वत्रिक अशक्ति मे एक प्रकार की कुशलता जरूर है, किन्तु वह कुशलता मृत्यु के समान ही है। हिन्दुस्तान मे हम एक दूसरे की शक्ति से डर कर दूसरे को शक्ति को क्षीण कर के हम एक दूसरे से सुरक्षित हो सकते हैं- परन्तु यह तभी हो सकता है जब सभी को समान रीति से अशक्त कर देने वाले प्लेग की तरह किसी तीसरी शक्ति को ला कर हम यहाँ खड़ी कर दे। पर हाँ-इसका फल क्या होगा ? हम सभी को उस तीसरी शक्ति के शिकार बन कर अपने जीवन से हाथ धोना होगा।

जैसे हम चाहते हैं कि दूसरे हमारी न्याय-बुद्धि पर विश्वास रक्खे उसी तरह हमें भी उचित है कि हम दूसरो की न्याय-बुद्धि पर विश्वास रखें। इसी का नाम रामराज्य है।

बहुतेरे मनुष्य एक धार्मिक लक्ष्य से प्रेरित हो कर कोई सत्कार्य करने के लिए अपनी इच्छा से एकत्र होते है; उस समय जो शक्ति उत्पन्न होती है वह धार्मिक शक्ति है। किन्तु साधारणतया जिसे राजनैतिक सामर्थ्य कहा जाता है वह तो जब अनेक मनुष्यो पर एक मनुष्य सत्ता चलाता है तभी उत्पन्न होता है। जब बहुत मनुष्यो की इच्छा थोडे मनुष्यो के अधिकार मे रहती है, जब अनेक मनुष्यो की शक्ति थोडे मनुष्यो की आज्ञा मे रहती है, अनेक मनुष्यो के द्रव्य को जब थोडे मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार खर्च कर सकते है ? अनेक मनुष्यो के सुख-दु:ख का जब थोड़े मनुष्यो की मानसिक इच्छा को तृप्त करने लिए त्याग किया जाता है- तब जानना चाहिए कि वह साम्राज्य का वातावरण है। स्वराज्य मे जहॉ तक लोगो का एकमत हो वहीं तक शक्ति और सम्पत्ति एकत्र होती है- और इसीसे हरएक मनुष्य स्वतंत्र रहता है। कोई किसी का अत्याचार सहन नही करता और कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता।

हम जब जन-साधारण से कहते है कि किसी का अत्याचार मत सहो- तब वे कहते हैं- 'हां' यह ठीक है, यह स्वराज्य का वातावरण है।' परन्तु जब हम कहते हैं कि किसी पर अत्याचार मत करो, तब वे कहते हैं कि यह तो रामराज्य की बात करते हो। हमे रामराज्य नही चाहिए। हमे तो स्वराज्य चाहिए। कही मनुष्य का स्वभाव भी बदला जा सकता है ? तुम हमे साधु बना देना चाहते हो ? हमे तो केवल स्वराज्य ही चाहिए।

ऐसे लोग नही जानते कि वे स्वराज्य नहीं साम्राज्य चाहते हैं। ऐसो को ईश्वर कहता है- -मै तुम्हे साम्राज्य तो अवश्य दूंगा,

पर वह तुम्हारा साम्राज्य नहीं; तुमपर सत्ता चलाने वाला साम्राज्य होगा। ईश्वर मन मे हँस कर कहता है, 'देखो' ये मनुष्य कैसे दुर्बुद्धि हैं। स्वराज्य मिलने से पहले ही ये सो साम्राज्य का मनोराज्य करने लग गये।"

स्वराज्य या रामराज्य
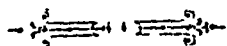
मैंने हिमालय के एक महात्मा को अभिमान पूर्वक कहते हुए सुना था कि भारतवर्ष के तो दो ही राजा हैं—राम और कृष्ण। कर उगाहने वाले और सैन्य पर आज्ञा चलाने वाले 'क्षुद्र राजा' तो वहुतेरे हो गये और होंगे, किन्तु भारतवर्ष के हृदय पर राज्य करने वाले तो दो ही राजा हुए, और उन दोनों को राज्य का मोह नहीं था।

हिमालय के श्रद्धावान् साधु के वचन आज सर्वांश में सत्य नही रहे। बलिहारी है अंग्रेजी शिक्षा की कि जिसके प्रताप से राम-राज्य से घृणा करने वाले कितने ही भारत-वासी दिखाई देने लगे हैं। वे कहते हैं, 'हमे स्वराज्य चाहिए' 'रामराज्य' नहीं। स्वराज्य और रामराज्य के बीच मे ये भाई ऐसा कौन सा भेद देखते हैं कि जिसके कारण उन्हे स्वराज्य तो प्रिय किन्तु रामराज्य कठिनाई देने वाला मालूम होता है? यदि वे लोग इतना ही चाहते हो कि अंग्रेजो के वदले भारतोयो के हाथ में राज-सत्ता आ जाय तो वह भारतीय नौकर-शाही होगी। कैनाडा या आस्ट्रेलिया में जैसा प्रजातन्त्र है वैसा ही स्वराज्य-तन्त्र हिन्दुस्थान मे खड़ा करने की उनको इच्छा हो तो वह भारतीय राज्य होगा, स्वराज्य नही। परमात्मा ने हिन्दुस्थान को ऐसी स्थिति में ला कर खडा कर दिया कि यहाँ विना रामराज्य के स्वराज्य हो ही नहीं सकता।

स्वराज्य अर्थात् सभी का राज्य। स्वराज्य वही है जिसमें गरीव किसान, मजदूर, अन्त्यज और दूसरे सभी दलित वर्ग निर्भय हो कर

रहं, दूसरे वर्गों के समान ही राजनैतिक अधिकारो का उपयोग करें, और दूसरे किसी के भी स्वार्थ और सत्ता के शिकार न बने। वह स्वराज्य नही, जिसमे गरीबो को निचोड़ कर उनके पसीने से दूसरे पैसे कमावे। वह स्वराज्य नही है, जिसमें देश के करोड़ो रुपये परदेश में भेज कर उनके बदले देश मे हमेशा के लिए अन्न का अकाल निमन्त्रित किया जाता है और कमाई करने वाला वर्ग मारा मारा फिरता है। 'हमे रामराज्य की जरूरत नहीं स्वराज्य ही चाहिए।' ऐसा कहने वाले बहुश. अपना ही राज्य चाहते हैं सब का नही।

ये लोग कई बार यह दलील करते है कि, पहले स्वराज्य प्राप्त करो पीछे रामराज्य स्थापन करने का प्रयत्न करेंगे, परन्तु यह दलील तो नाम-मात्र की दलील है। जिनके मन मे अधिकार प्राप्त होने के पहले रामराज्य के विषय मे आस्था नहीं वे सत्ता-धारी होने पर शायद ही फिर रामराज्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करे और आज तो हिन्दुस्थान मे उपर्युक्त रामराज्य स्थापन करना जितना आसान है उतना वह नही जिसे लोग स्वराज्य कहते हैं।

स्वराज्य के लिए अर्थात् यह कि जैसा अन्य देशो मे होता है वैसा प्रजातन्त्र प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने मे कोई बुराई नही, परन्तु हिन्दुस्थान मे रामराज्य को तिरस्कृत करके वह नहीं हो सकता, इतनी बात हमें अवश्य ध्यान मे रखनी चाहिये।

स्वराज्य अर्थात् अन्य देशो के समान प्रजातंत्र शासन पद्धति स्थापन करने के लिए प्रयत्न करना बुरा नही। परन्तु हमे यह जरूर ध्यान मे रखना चाहिए कि रामराज्य की निन्दा करके वह भारत मे कदापि स्थापित नही हो सकता।

शुद्ध स्वराज्य

आज भारत मे अनेक तरह के स्वराज्य स्थापन करने की आवश्यकता है। राजनैतिक स्वराज्य तो जिस तरह सरकार के साथ लड रहे है उस तरह जल्दी या देर से प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु भारत का राष्ट्रीय स्वराज्य इससे बड़ा है। स्वराज्य अर्थात् अपना अपना राज्य। शुद्ध स्वराज्य वही है जब समाज का एक भी हिस्सा या वर्ग दूसरे किसी भी हिस्से या वर्ग से दबा हुआ न रहे, जब समाज का प्रत्येक वर्ग अपने तमाम हित-सम्बन्धो को समाज के दूसरे किसी भी वर्ग के हाथ मे सुरक्षित समझे।

जब तक हिन्दू और मुसलमान इन दोनो जातियो के बीच अविश्वास रहेगा तब तक स्वराज्य असम्भव है। अन्त्यजो को जब तक यह भय बना रहेगा कि अब तो ब्राह्मणों का राज्य होगा तब तक स्वराज्य न होगा। स्त्रियो को अपनी उन्नति के लिए पुरुषो के मुँह की ओर ताकना पडेगा, तब तक स्वराज्य असम्भव है और तब तक भी स्वराज्य भारत मे न हो सकेगा जब तक कि मजदूरो को अपनी इच्छा के खिलाफ उनके परिश्रम का अधिक भाग पूँजी-पतियो को जबरदस्ती देना पड़ेगा।

आज हमने ये चारो प्रश्न हाथ मे लिये है। हिन्दू और मुसलमानो की एकता दिन ब दिन मजबूत होती जाती है। खादी के द्वारा मजदूरो का सवाल हल होता जा रहा है। अस्पृश्यता को अब अपनी मौत की घड़ी की सूचना मिल गई है, और स्त्रियाँ

धीरे धीरे समाज मे अपना स्वाभाविक स्थान ले रही हैं। देश में धीरे धीरे आत्मशुद्धि होती जा रही है और जनता मे अपने कर्तव्य का भान ज्यो ज्यो बढ़ेगा त्यो त्यो आत्मशुद्धि भी बढ़ेगी ही। लोग व्यसन मे जो उत्साह दिखाते है वही उत्साह वे आत्मशुद्धि मे भी दिखावे। ज्यो ही राष्ट्र मे आत्मशुद्धि का उत्साह आ जायगा कि फिर वह कही भी नही रुकेगा।

हिन्दुस्थान मे तीन दल दबे हुए हैं किसान या मजदूर, अन्त्यज और स्त्रियां। कार्यकर्त्ताओ को प्रतिदिन यह अनुभव होता जा रहा है कि समाज मे तभी बल का सञ्चार होगा जब इन तीनो का उद्धार होगा। और इन तीनो दलो की उन्नति करना हम स्वराज्यवादियो का कर्तव्य है, यह भी लोग समझने लगे हैं।

× × × ×

जहाँ अत्याचार हुआ है वहाँ उसका नाश दो तरफ से होना चाहिए। अत्याचार का लाभ लेने वाले मनुष्यो को धार्मिक वृत्ति का विकास कर अत्याचार को रोकना चाहिए, और अत्याचार की शिकार बने हुए मनुष्यो को तेजस्विता, सहनशीलता का विकास कर अत्याचार के वश मे होना बन्द कर देना चाहिए।

उपर्युक्त तीनो दलो की अवनति का कारण इन तीनो दलो पर सवार होने वाले प्रतिष्ठित लोगो का अभिमान या स्वार्थ है। जो मनुष्य स्वयं शारीरिक परिश्रम नही करता, उसे अपने पंगुपन पर तो लज्जा उत्पन्न होनी ही चाहिए। पर इसके बदले वह अपनी पंगुता को ही प्रतिष्ठा का स्वरूप दे कर उस पर अभिमान करता है और फिर जिन दलो से सेवा लिये बिना उसका चारा नही उनके प्रति कृतज्ञ होने के बदले उन्हे वह नीच समझता है और अपने को

श्रेष्ठ । आज समाज मे सफेदपोश और मजूर पेशा ऐसे जो दो भेद हो गये है उसका यही कारण है ।

स्त्रियो को भी शायद इसी कारण हमने अबला नाम दिया होगा । अन्त्यजो से सेवा ले कर उन्हे अस्पृश्य रखना; किसानों और परिश्रमियो से सेवा ग्रहण करने पर भी उन्हे निर्धन दशा मे रख कर चूसना, और स्त्रियो से निरन्तर सेवा ग्रहण कर उन्हें अज्ञान की अज्ञान ही बनाये रखना महान् से भी महान् पाप है । जिसे हम सहधर्मचारिणी कहते हैं, जिसके साथ हम सम्पूर्ण जन्म व्यतीत कर देते है, जो हमारी प्रजा को सबसे पहले संस्कारी शिक्षा देती है उसीको यदि हम अज्ञान, वहमी और विलास-प्रिय रहने देंगे तो हमारी दशा कभी नही सुधर सकती। सेना की आधी सख्या मे कायरो की नियुक्ति करके यदि कोई सेनापति विजय प्राप्त कर सकता हो तो हम भी अपनी स्त्री, बहन, लडकी या माँ को अज्ञान रख कर कौटुम्बिक और—राष्ट्रीय जोवन को उच्च कर सकेंगे ।

स्त्रियो को देश की स्थिति समझनी चाहिए । देश के उद्धार मे हाथ लगाने का अवसर स्त्रियो को मिलना चाहिए । स्त्रियो पर दया करके यदि हम उन्हे अपनी सार्वजनिक हलचलो की कठिनाइयो से दूर रक्खेंगे तो वे अबला की अबला ही बनी रहेंगी ।

पुरुषो का स्त्रियो को अपनी आश्रित समझना उनका भारी से भारी अपमान है । जो दूसरे को आश्रित मानता है उसे कोई तीसरा आश्रित बनाता है । इसका उदाहरण है पण्डित लोग । स्त्रियो के आश्रित होने की प्रशंसा करते करते बेचारे खुद ही दूसरो के आश्रित बन गये ।

राजनीति की छुआछूत
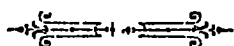
कई लोगो का ख़याल है कि जिन्होने अपना जीवन धर्म को अर्पण किया है उनका दिल राजनीति मे नही लग सकता है। एक तरह से यह सच है। अनेको बार देश देश के बीच या दो पक्षो के बीच जो राजनैतिक विवाद छिड़ते है, वे स्वार्थ या मतलब से ही सम्बन्ध रखते हैं। दोनो मे एक पक्ष को भी धर्म का ख़याल तक नही होता, और विवाद का फल भी कुछ ससारी लाभ ही होता है। ऐसी स्थिति मे धार्मिक मनुष्य का स्पष्ट धर्म यही हो सकता है कि ऐसे राजनैतिक झगडो से वह अलग ही बना रहे।

परन्तु धार्मिक मनुष्य ऐसे कायर तो नहीं होते कि, विवाद के नाम मात्र से दूर भाग खड़े हो। स्वार्थ के सिवा अन्य विषयो पर भी तो संसार मे विवाद खड़े होते देखे जाते है। सम्पूर्ण ससार मे न्याय और दयाधर्म स्थापन करने के लिए दिन-रात अधर्म से जूझना आवश्यक है, और धार्मिक मनुष्य का यदि कोई बड़े से बड़ा कर्तव्य हो तो वह यही हो सकता है कि वह बहादुरी के साथ ऐसे विवादो मे कूद पड़े है। इस संसार मे उसके जीवन की यही एक मात्र विशेषता होती है।

प्रत्येक युग मे अधर्म भिन्न भिन्न स्वरूप धारण करता है. क्योकि शैतान बहुरूपी है, कामरूपी (जब चाहे वैसा रूप लेने वाला)

है। ईसा के समय मे शैतान ने धर्माचारियो का रूप धारण किया था, इसीलिए ईसा ने उन्हे देवमन्दिरो से निकालने के लिए उन पर अपना कोड़ा उठाया था। मन्दिर भी तो आखिर सांसारी वस्तु ही है न, ऐसा कह कर वह चुप चाप नही बैठ रहा।

धर्म विरक्त होने पर भी वीर है। धर्म मे आसक्ति नही, पर कायरता भी नही है। इससे सच्चा धार्मिक पुरुष जहाँ अधर्म देखता है वहाँ वीरोचित युद्ध ठान ही देता है। और धार्मिक पुरुष के छेड़े हुए युद्ध मे सदा उसी की विजय होती है।

गाँधीजी के विषय मे लिखते हुए प्रो० गिलबर्ट मरे कहते है—

'जिसे इन्द्रियो के भोग की पर्वाह नहीं, जो धन और वैभव को तुच्छ समझता है, जिसे स्तुति प्रफुल्लित नही कर सकती, जिसे सांसारिक उन्नति की लालसा नही, परन्तु अपने को सूझा हुआ सत्य आचरण करने का जिसका दृढ़ निश्चय है ऐसे त्यागी पुरुष से काम लेते हुए सत्ताधारियो को बहुत ही सावधानी से चलने की आवश्यकता है। यह शत्रु महा भयानक और अत्यन्त असुविधा-जनक होता है। उसके शरीर को तो आप जब चाहे तभी कैद मे कर सकते है, पर आपका सच्चा शत्रु तो है उसकी आत्मा। उसके बदले केवल मट्टी का शरीर ही आपकी कैद मे आता है। यह तो घटी का सौदा होगा।

एक समय ईसा ने कहा था "सिजर की मुद्रा सिजर को लौटा दो" किन्तु यह उन्होने इसलिए नही कहा कि वे बादशाह के साथ कोई राजनैतिक विवाद मोल लेना नही चाहते थे, या उससे सदा दूर रहना चाहते थे। इसका अर्थ तो इतना ही था कि उनका वह युद्ध सिज़र से नही, बल्कि

अधर्मी धर्माचार्यों से था। ईसा धर्म नष्ट करने को नही आये थे, वे तो धर्म के नाम पर अधर्म-आचरण करने वाले धर्माचार्यों को धिक्कार कर उनसे धर्म पालन कराने के लिए आये थे। आज राजनैतिक विषयो मे अधर्म ने प्रवेश किया है। बडी से बड़ी लूट बड़ी से बड़ी हिंसा, और बड़े से बड़ा तेजोवध कानून के नाम पर सरकार द्वारा हो रहे हैं।

सच्चा कानून तो वही है, जो नीतियुक्त हो। सत्य और अहिंसा ही ससार का सनातन कानून है। गॉधी जी उसका उल्लंघन नहीं करते। अपने को कानून की रक्षक कहलाने वाली सरकार से गॉधीजी उसी कानून का पालन कराना चाहते है। असहयोगी तो केवल नीतिहीन कानूनो को तोड़कर ही अधर्म द्वारा प्रस्थापित सरकार की प्रतिष्ठा के टुकड़े टुकड़े करने का प्रयत्न करते है। 'सिजर की मुद्राये सिजर को लौटा दो' इस वचन मे से यदि कुछ भी सनातन धार्मिक सिद्धांत निकाला जा सकता हो तो वह वही हो सकता है जो महाशय पाल रिशार ने निकाला है। वे कहते हैं—

'सिजर की मुद्राये सिजर को दे दो।' इसके मानी है उन मुद्राओ को (द्रव्य को) कोई न छुओ, मुद्रा का व्यवहार ही न करो।

ईसा का मन्तव्य था कि धार्मिक मनुष्य पैसे को छू ही नहीं सकता और पैसे वाला—धार्मिक मनुष्य धर्म-प्रदेश मे प्रवेश नही कर सकता।

गरीबो के लिए औषधालय वनवाने और पशुओ के लिए पशुशालाये स्थापन करने ही मे कर्त्तव्य समाप्त नहीं हो जाता। आज धर्माचार्यों को—धार्मिक पुरुषो को अधर्म के मुख्य किले पर

धार्मिक पद्धति से आक्रमण करना चाहिए। जहाँ आत्म-हनन होता है वहाँ उपदेश देना चाहिए। लोग सर्वस्व को त्यागकर आत्मा की रक्षा करें। धर्म ऐसा कायर नहीं है जो आत्मा के रक्षण के लिए राजनीति मे प्रवेश न कर सके। धर्म को राजनीति की छुआछूत रखने का कोई कारण ही नहीं है। यदि वह राजनीति की छुआछूत पालने लगेगा तो राजनीति अधर्म के लिए एक सुरक्षित द्वीप-दुर्ग बन जायगी, जहाँ अधर्म निर्भय हो कर गर्जना करता रहेगा। कहा जाता है कि चोरो का पीछा करने वाला एक पुलिस का सिपाही क्लेक्टर के बंगले के दरवाज़े के सम्मुख पहुँचते ही रुक गया। पर चोर बगले के आहते मे घुसकर दूसरी तरफ भाग गया। जब पुलिस को दरवाज़े पर रुक जाने का कारण पूछा गया तो उसने कहा, 'यह देखिए न; यहाँ यह साइनबोर्ड (पट्टी) लगा है कि "बिना आज्ञा भीतर न आओ।" फिर मै भीतर कैसे जा सकता हूँ ?

यदि धार्मिक पुरुष राजनीति मे प्रवेश करने से डरेगे तो संसार से अधर्म का नाश करने की आशा ही नहीं रक्खी जा सकती। क्षुद्र स्वार्थमय राजनीति तो धार्मिक मनुष्य का विषय नहीं है, किन्तु धर्म-रक्षण की राजनीति तो धार्मिक मनुष्य ही का विषय है।

गुलामी के मूल

बहुतेरे मनुष्य मानते हैं.—अँगरेजों की राज्य-पद्धति अच्छी है, अँगरेजों का व्यापार अच्छा है, अँगरेजी शिक्षा लाभदायक है, अँगरेजी समाज रचना बहुत ही सुधरी हुई है, केवल अँगरेजी स्वार्थ खराब है, इस स्वार्थ ही के कारण वे हमारी हानि करते है, इसलिए यदि उन्हे किसी तरह मजबूर करके उनमे एक बार इतना परिवर्तन कर दिया जाय कि वे हमे राज्याधिकार दे दे तो और कुछ भी न करना पड़े, फिर तो उन्होने इन ढेढ़ सौ वर्षों तक शिक्षा, समाज-रचना, व्यापार, सम्पत्ति-शास्त्र, कला, विज्ञान और राज्यतन्त्र आदि विषयो मे जो रास्ता बतलाया है उसी रास्ते धड़ाके से चले चलें, तो भी कोई आपत्ति नही है।" यह देखने की आवश्यकता नहीं कि इस तरह के विचार रखनेवालो की सख्या कितनी है ? वे थोड़े ही क्यो न हो किन्तु आज बहुतेरी हलचलो मे उनका भाग है, और जन साधारण इसी विचार-शैली के भ्रम मे पड़ जाते है, क्यो कि विचार करने का कष्ट न करना यह सामान्यमनुष्यो का सनातन धर्म है।

परन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है "अँगरेजो के पास हर एक चीज़ अच्छो है। केवल स्वार्थवश ही वे हमे ठगते हैं।' ऐसा मान कर हम अँगरेजो को दुष्ट कह डालते हैं। अँगरेजो का

साम्राज्य विशाल है, संसार मे बहुत जगहो मे उनकी सत्ता है, केवल इतने पर से यह न मान लेना चाहिए कि जीवन की सफलता की चाबी उनके हाथ मे लग गई है। उनकी राज्य-पद्धति अनेक प्रकार से सदोष है, उनकी समाज-व्यवस्था मे कितनी ही त्रुटियां हैं, उनकी शिक्षा से वे स्वयं ही बहुत असन्तुष्ट हैं, उनके व्यापार ने भले ही धन के ढेर लगा दिये हो, परन्तु उनमे से समझदार लोग तो यही स्पष्ट पुकार पुकार कर कह गये हैं कि इससे उनका राष्ट्रीय जीवन बड़ा नीरस हो गया है, क्या हम ऐसे लोगों की नकल करें ? अपने स्वार्थवश अँगरेजों ने हमारी बहुत हानि की है, परन्तु हमारा भला करने की इच्छा से भी उन्होने हमारी कम हानि नही की है। बेवकूफ शराबी अपने लड़को को मार-पीट कर भी शराब पिलाता है। उसका हेतु तो शुद्ध ही होता है। खुद उसे मिलने वाले 'अलौकिक' आनन्द का अनुभव अपने प्यारे बच्चे को दिये बिना उससे कैसे रहा जा सकता है ? नागपुर मे युवराज पधारे थे, उस समय एक अँगरेज बैरिस्टर अन्त्यज परिषद् के अध्यक्ष थे। उन्होने अपने भाषण मे बहुत ही सद्‌हेतु पूर्वक कहा—'भाइयो ! ये हल चल करने वाले लोग तुम्हे व्यर्थही शराब से डरा रहे हैं। तुम जरा भी न डरो उचित प्रमाण मे।तुम शराब अवश्य पीओ।'

और यदि हम मान ले कि अँगरेजो की प्रत्येक वस्तु निर्दोष है तो भी वह उनके लिए निर्दोष होगी। हमारा स्वभाव, हमारी परम्परा, और हमारा आदर्श सभी न्यारा है। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हम जो प्रयत्न करते है वह केवल इसलिए नहीं कि राज्य-सूत्र हमारे हाथ आ जायँ, बरन् इसलिए कि हमारे राष्ट्र की सर्वा-

क्षीण उन्नति हो। हमारी सच्ची उन्नति तभी हो सकेगी जब हम सभी चीजें इस ढङ्ग से चलावेंगे जो राष्ट्र के अनुकूल हो। यह ठीक है कि सरकार को महान् अन्याय करते देखकर हमने उसके साथ असहयोग किया। उसका राज्यतन्त्र, उसकी शिक्षा, उसकी अदालतें और उसके दिये हुए मान-सम्मानों का हमने त्याग दिया। और यदि अब सरकार अपने पापों पर पश्चात्ताप करे, प्रायश्चित्त करे तो हम असहयोग को बन्द कर देंगे इत्यादि भी ठीक है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि फिर सरकार पुराने ही ढंग से चल सकेगी और हम उसका अनुकरण करेंगे। हमने अँगरेजी प्रणाली के साथ तो निश्चित रूप से असहयोग किया है। हम अब शिक्षा तो राष्ट्रीय पद्धति से ही लेते रहेंगे। यदि सरकार पश्चात्ताप करके पवित्र होकर हमारे साथ सुलह करेगी तो हम सरकार से कहेंगे कि तुम्हें अब राष्ट्रीय ढंग से ही शिक्षा शुरू करनी होगी। कोर्टों के विषय में कहेंगे कि तुम वही न्याय-पद्धति चला सकोगे जो प्रजा के अनुकूल होगी। जब हम राज्यतन्त्र में भाग लेंगे तब भी ऐसी शासन-पद्धति का विकास करेंगे जो प्रजा की प्रकृति के अनुकूल हो प्रजा को जिस मनुष्य में आर्य-सद्गुण दिखाई देंगे उसीका वह उपाधि आदि द्वारा सन्मान करेगी और मान सन्मान तथा उपाधियों के देने वाले और लेने वाले दोनों एक से ही मान-धनी होंगे।

प्रत्येक सरकार अपने स्वार्थ के अतिरिक्त अपनी संस्कृति की भी हिमायती होती है। अंगरेज सरकार हमारी धार्मिक विषयों और रीतियों में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप नहीं करती, किन्तु अपनी शिक्षा, अपनी अदालतों, अपने राज्यतत्र और राजमान्यता द्वारा

हिन्दुस्तान के जीवन पर क्षण-क्षण पर विषैला प्रभाव डालती ही जाती है और हमें जड़ धर्म बतलाती जाती है। अचार के आम या नीबू में जिस प्रकार नमक धीरे-धीरे रँजता जाता है उसी तरह इन चारो वस्तुओं शिक्षा, अदालत, राज्यतंत्र और राज-मान्यता -का प्रभाव प्रजाजीवन पर जड़ जमाता ही जाता है। किसी भी जाति या राष्ट्र को खाने के योग्य अचार बनाने के लिए इससे बढ़िया नमक नहीं मिल सकता।

यदि हमें जीना है, हमारे निजी ढँग से बढना है और आत्मोन्नति पूर्वक मानव जाति की सेवा करनी है तो इस खारीपन के साथ शाश्वत असहयोग करना चाहिए। पाश्चात्य संस्कारों के पक्षपाती इस विचार को जङ्गली विचार बतला कर हमारी हँसी उड़ावेंगे, हम अंग्रेज जाति के शत्रु हैं, इस तरह का अभियोग हम-पर लगावेंगे और यह भी कहेंगे कि हम प्रगति रूपी घड़ी के कांटो को पीछे खिसकाते हैं। टीका कर-कर के बात को उड़ा देने का प्रयत्न भी वे करेंगे, हमें हँस-हँस कर हमारी सामाजिक प्रतिष्ठा को घटा देंगे। हमारा आत्म विश्वास डिगाने का हर एक प्रयत्न वे करेंगे, हमें भूतकाल के उपासक कहकर पितृलोक में भेजने का प्रयास भी वे करेंगे। परन्तु हमें इन बातो से लेशमात्र भी न डरना चाहिए। हमारा विश्वास ब्रह्मचर्य के समान अजेय होना चाहिए। भविष्यकाल के सच्चे उपासक हमी है। हम अपने प्राणों से जीना चाहते हैं। मंगे हुए प्राणो से आज तक कोई राष्ट्र न जीया और न जी सका। हम प्राणग्राही हैं। भविष्यकाल हमारा ही है।

अन्त्यज-सेवा

जिसमे समभाव नहीं वह सेवा नही कर सकता। समभाव के मानी दया नहीं, परोपकार करने की वृत्ति नहीं, बुजुर्गी, शिष्टता नही, समभाव का अर्थ है प्रेम की समानता, समभाव का अर्थ है आदर; समभाव का अर्थ है जानने की इच्छा, समभाव का अर्थ है भावना और आदर्श की समानता।

अन्त्यजो की या अन्य किसी भी जाति की सेवा कहिए, समभाव ही से होनी चाहिए। अहङ्कारी मनुष्य तिरस्कार से भी सेवा कर सकता है, अज्ञानी मनुष्य अज्ञान से भी सेवा कर सकता है, परन्तु वह सच्ची सेवा नहीं। एक कहानी है। एक स्त्री ने देखा कि अपने सोये हुए पति के गाल पर एक मक्खी बैठी है; उसने सेवा भाव से उस मक्खी को इतने जोर से एक चांटा लगाया कि पति के गाल से खून निकलने लगा।

हमारा गृह-जीवन, हमारा धर्म, हमारा साहित्य इन सभी के विषय मे अपने दिल मे असीम तिरस्कार धारण करने पर और बहाने पर भी कितने ही गोरे हमारी सेवा करते हैं। हम सभी जानते हैं और हमे अनुभव भी है कि उनका सेवा हमे कितनी प्यारी और हितकारिणी है, जो परदेश से आ कर अपनी आढ्यता का

सिक्का जमाना चाहते है। उनकी सेवा से हमे ऐहिक या बौद्धिक लाभ भले ही होता हो, किन्तु उससे हमारा आत्म-हनन ही होता है। जो हममे मिल कर हमारे बन कर रहते हैं, हमे समझने की कोशिश करते हैं, हमारे ढङ्ग से काम करते हैं। वेही हमारे गुण-दोष समझ सकते है। हमारे गुणो से वे प्रसन्न होते हैं और उन्हे विकसित करने के लिए सहायता करते हैं। हमारे दोषो से वे लज्जित होते है और उन्हे दूर करने के हमारे प्रयत्नो मे प्रेम और समभाव से सम्मिलित होते हैं। वे हमारे सेवक बने रहना चाहते है, उनका आदर-सन्मान करने पर भी वे उसे ग्रहण नहीं करते।

जो अभिमानी होते है, अज्ञानी और लापर्वाह होते है, वे अच्छे-बुरे की अपनी कसौटी साथ-साथ लिए घूमते हैं। जो उन्हें अच्छा न लगता हो उसे हमे छोड देना चाहिए फिर वह हमें कितना ही प्रिय और अनुकूल हो। उसी प्रकार जिसे वे प्रिय समझें वह कितना ही अनुचित हो तो भी हमे धारण करना चाहिए। चिकनी मिट्टी के घोडे को तोड कर हम यदि उसका साँप या गणपति बनाना हैं तो पुरानी आकृति को तोड़ कर हमे उसे बिलकुल नया आकार देना पड़ता है। उसी प्रकार वे हमारे समाज को भी समझते हैं। किन्तु समाज कुछ चिकनी मिट्टी तो है नहीं, और यदि हो भी तो परकीयो के लिए कदापि नहीं।

जो नियम हमारे लिए हैं वे ही अन्त्यजो के लिए भी है। आराम-कुरसी पर बैठ कर हम निश्चित करते हैं कि, अन्त्यजो के लड़कों को इस तरह की पोशाक पहननी चाहिए। उन्हे इतने विषय जानने चाहिए, इतने उद्योग सीखने चाहिए, और अमुक-अमुक विचारो को छोड़ देना चाहिए, अथवा धारण कर लेना चाहिए।

अन्त्यजो के लड़को को ले कर चिकनी मिट्टी के समान उन्हे अपनी कल्पना के अनुसार हम बना लेना चाहते है।

"अन्त्यजो का और हमारा धर्म एक ही है। हम दोनो एक ही समाज के अंग है। हम अनादि काल से अन्त्यजो के प्रत्यक्ष गुरू नही तो उनके अगुआ तो जरूर ही हैं। वे हमारे आश्रित, हम उनके मुरब्बी, यह सम्बन्ध चला आता है, और इसीलिए अन्त्यजो के उद्धार का मार्ग निश्चित करने का अधिकार और योग्यता भी हम रखते है" इस तरह का यदि कोई दावा करे तो वह अयोग्य होगा, सो नहीं। परन्तु बहुतेरे अधीर बनकर अन्त्यजो का उद्धार करते करते अपने समाज से भी अलग हो गये हैं। हमने अपने धर्म-विचार निश्चित नही किये। हमने अभी यह भी निर्णय नही कर लिया कि सामाजिक जीवन में कौन सी व्यवस्था अच्छी है। जितना पुराना है उसे सरलता से तोड़ने मे लगे है, परन्तु हमने अभी तक इसका विचार नही किया कि उसकी जगह पर नया क्या उपस्थित किया जाय, अथवा क्या उपस्थित किया जा सकता है। और अन्त्यजो के सुख दुखो मे उनके सहयोगी बनकर उनकी जीवन-यात्रा हलकी कर दने की बात तो हमे अभी तक सूझी भी न थी। फिर हम किस तरह उनके भाग्य-विधाता बनेंगे?

इसका यह अर्थ नही कि, हम उनकी सेवा ही नही कर सकते। पर सेवा करने के पहले हमे उनका हृदय उनकी ठीक-ठीक स्थिति जान लेना जरूरी है। उनकी शक्ति और अशक्ति की परीक्षा करनी चाहिए। उनकी मान्यताओ के आधारभूत कारणो को खोजना चाहिए। उनकी धारणाओ और रिवाजो की जड़ मे महत्व-

पूर्ण कारण होते है। हमे इसका पता लगाना चाहिए कि वे कारण कौनसे है, जिन्होने अन्त्यजो मे थोड़ा बहुत काम किया है, उनका अनुभव जान करके अत्यन्त नम्रता से और समभाव से अन्त्यजों की सेवा का श्रीगणेश करना चाहिए।

अन्त्यजो की अस्पृश्यता दूर करते ही उनके कितने ही दोष तो अपने-आप ही दूर हो जायगे। स्पृश्य समाज मे मेल मिलाप चढ़ते ही अनायास उन्हे कितने ही संस्कार मिलने लग जावेगे। उनका उत्तर-दायित्व बढ़ जावेगा, जिसको निबाह लेने के लिए हमें उन्हे समभाव पूर्वक सहायता करनी चाहिए।

और खासकर यह ध्यान मे रखना चाहिए कि, जहाँ जहाँ अन्त्यज स्पृश्य समाज मे सम्मिलित हो वहाँ वहाँ अन्त्यजो के स्वभाव मे इतनी नम्रता और मधुरता तो जरूर बनी रहे कि सभी लोग उनका प्रेम पूर्वक स्वागत करने लग जायँ। अन्त्यज-सेवको को इसकी खूब चिंता रखनी चाहिए। अन्त्यजो की जाति के प्रति जो रूढ़ तिरस्कार है उसके स्थान पर यदि पढ़े लिखे अन्त्यजो की उद्धतता के कारण समाज मे नया तिरस्कार उत्पन्न हो जायगा तो उसे दूर करना कठिन होगा। कई लोगो के मन में अस्पृश्य भावना का अंश मात्र भी नही होता। गन्दे, शराब पीने वाले मेहतरो के साथ भी वे बन्धु-प्रेम से बाते कर सकते है। किन्तु ऐसे लोगो के लिए भी कई बार कितने ही पढ़े-लिखे और उद्धत अन्त्यजो की भाषा और उनकी अपेक्षायें-आशाये बरदाश्त करना कठिन हो जाता है। यह दोष है उस शिक्षा का जो हमने उन्हे दी है। हम अन्त्यजो को स्पृश्य समाज मे स्थान देना चाहते हैं, वह उनका हक भी है। पाप है, अन्याय भी है, परन्तु उस अन्याय को दूर करने के लिए

स्पृश्य समाज का अपमान कर उनके साथ तुच्छता का बर्ताव करके अन्त्यज अपना कल्याण नहीं कर सकते। अभी तक जिस नम्रता को भय या अज्ञान के कारण धारण किया था, उसीको अब उन्हें ज्ञानपूर्वक और स्वाभिमान पूर्वक धारण करना चाहिए। वहम और भय के त्याग की ज़रूरत है, नम्रता के त्याग की नहीं, जिस प्रकार वकील मुअक्किल का पक्ष ले कर उसे लड़ाते हैं; उसी प्रकार यदि हम अन्त्यजों का पक्ष ले कर उन्हें स्पृश्यवर्ग के साथ लड़ा देंगे तो उससे कुछ दिन तक हम अन्त्यजों में भले ही लोकप्रिय हो जायेंगे, और स्पृश्य समाज भी हमसे डरने लग जायगा, किन्तु यह समाज सेवक का पवित्र कार्य कदापि न कहा जायगा।

मनुष्य के लिए यदि अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त सूक्ष्म कोई वस्तु हो तो वह है मनुष्य-समाज। उस समाज की व्यवस्था में हम जब कभी हाथ डालेंगे तब हमें वह अत्यन्त श्रद्धा, आदर भक्ति और नम्रता पूर्वक करना चाहिए। नहीं तो समाज-द्रोह का पाप हमारे सिर पर आ बैठेगा। समाज-द्रोह प्रत्यक्ष ईश्वर ही का द्रोह है। यदि इसमें भेद भी हो तो ईश्वर की दृष्टि से प्रभु-द्रोह की अपेक्षा समाज-द्रोह ही अधिक खराब है। प्रभु-द्रोह पर क्षमा हो सकती है—सदा होती है। परन्तु समाज-द्रोह—बन्धु-द्रोह का प्रायश्चित जमानों तक—शताब्दियों तक करना पड़ता है।

मजदूर का धर्म
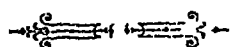
अभी अभी तक हिन्दुस्तान में अधिकांश मजदूरो का वर्ग ही नही था। देश का अधिकांश हिस्सा किसानो ही का था। आज भी किसानों का प्रश्न ही सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार यूरोप मे मजदूरो की समस्या जटिल है उसी प्रकार हनारे यहां किसानो की समस्या है। यदि किसी दल पर सबसे अधिक सामाजिक दबाव है तो वह किसानो ही पर। गुजरात के किसानो की स्थिति से बङ्गाल, महाराष्ट्र या संयुक्त प्रान्त के किसानो की स्थिति ज्याद खराब मालूम होती है। आज मीलो के कारण जो मजदूर-दल उत्पन्न हुआ है वह अधिकांश मे किसानो के दल मे से ही उत्पन्न हुआ है। जब किसान को खेती पसन्द न हो, और उसको देहात् की दरिद्र स्थिति असह्य हो जाती तब वह मजदूर बन जाता है। अर्थात् एक तरह से मजदूर-दल खेती की निष्फलता की निशानी है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

मनुष्य की मुख्य आवश्यकाताये दो हैं—अन्न और वस्त्र। उनमे किसान अन्न उत्पन्न करता है और हरएक मनुष्य उसे पका कर खाता है। हरएक मनुष्य अपने-अपने घर मे सूत काते और जुलाहा उसे बुन दे, यही प्राचीन प्रणाली थी। सूत कातना और अन्न राँधना यह हरएक कुटुम्ब का नित्य कर्म था। खेती

और वस्त्र व्यवसाय ये देश मे वडे से वड़े उद्योग थे। इनको छोड-कर जो कुछ भी समाज का काम होता, उसे अन्य कारीगर करते थे। मजदूरो का काम ही न पड़ता था। हरएक कुटुम्ब वह सब काम अपने हाथ से कर लेता था जो उससे बन सकता था। उससे भी अधिक आ पड़ता तो अपने पड़ौसी की सहायता ले लिया करता था। अब भी हमारे समाज मे विवाह आदि प्रसङ्गो पर एक दूसरे के यहाँ एक ही जाति के पुरुष और स्त्रियाँ इकट्ठी होती हैं और लड्डू या पापड़ वना लेती है। एक ओर काम होता जाता है, दूसरी ओर विनोद वार्तालाप भी होता रहता है, या गीत गाये जाते है। इस तरह हमारी व्यवस्था मे परिश्रम भी एक प्रकार का उत्सव बन जाता है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

किसान को प्रकृति के साथ मिलने का आनन्द मिलता ही है। हल या पटहा चलाते समय किसान लोग आनन्द से ललकारे लगा लगा कर गीत गाते हैं। जुलाहा भी ढोटे की ताल पर अपने कण्ठ की ताने छेडता रहता है। कारीगरो को कला की उत्तम वस्तु तैयार करने मे निर्दोष आनन्द मिलता है। इतना ही नही, वरन् खेत मे लुनने के समय, या घर मे छत या पलस्तर करते समय, टिपाई करते हुए भी मजदूर लोग सङ्गीत का आनन्द लेते है। आज मजदूर-वर्ग को मील मे जिस तरह का काम करना पड़ता है वैसा आत्मघातक काम पहले के मजदूरो को कभी न करना पड़ता था। जिसको खुद परिश्रम मे आनन्द नही मिलता उसे आनन्द-प्राप्ति के वाहरी साधन खोजने पड़ते है। और ऐसी मजदूरी करने वालो का समाज यदि संस्कारी न हो तो वह

स्वभावत चाहे जहाँ से मनमाना आनन्द प्राप्त करने को लल-चावेगा।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

मजदूरी या शारीरिक परिश्रम ये दोनो पवित्र से पवित्र उद्योग है। आरोग्य, दीर्घायुष्य और स्वतन्त्रता ये मजदूरी के आशीर्वाद है। मजदूर का जीवन दूसरे सभी उद्योगो की तुलना मे अधिक निष्पाप होता है। यदि मजदूर सन्तोषी हो तो वह सुगमता से अस्तेय और अपरिग्रह व्रत का पालन कर सकता है और उसीमे अहिंसा भी वर्तमान है।

मजदूर का पेशा जितना पवित्र है, उतना ही संमानपूर्ण भी है। हां, हर एक मजदूर को इस बात का विचार जरूर करना चाहिए कि, वह किस कारण वश और किस शर्त्त पर मजदूरी कर रहा है। मजदूर जो काम करता है या जिस वस्तु को बना रहा है वह समाज के लिए आवश्यक और धर्म को मान्य होनी चाहिए। मजदूर को मजदूरी करते हुए अपनी स्वतन्त्रता को खो न बैठना चाहिए।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ *

फीजी अथवा दक्षिण आफ्रिका के मजदूरो को गिरमिटिया कहते हैं। ये अपने सेठ, या अपने काम को पसन्द नहीं कर सकते। वे शर्तों से बधे हुए होते है। इसीलिए उन्हें शर्तबन्द कहते है। कुली भी अपमान-जनक नाम है। दैनिक मजदूरी ले कर कार्य करने वाले को मजदूर कहते है। बम्बई मे मजदूरों का नाम है कामदार। यह शब्द मजदूरो मे जागे हुए आत्म-सम्मान का सूचक है। अमेरिका मे मजदूरो को 'हेल्प्स' या मददगार

(सहायक) कहते हैं। जो मनुष्य मजदूर रखता है, वह परावलंबी है, पङ्गू है और मजदूर अपने काम का पारिश्रमिक लेते हुए भी समाज-सेवा करता है यह भाव इस नाम में समाविष्ट है। मराठी मे मजदूरो के लिए पुराना शब्द 'गड़ी' है। गड़ी अर्थात् दोस्त, भिड़ू या साथी। परिश्रम में सब समान हैं, परिश्रम मे भ्रातृ-भाव वर्तमान है और जो हमारा काम करता है वह हमारे ही वर्ग का समवयस्क है। यह सभी अर्थ-छाया 'गडी' शब्द मे एकदम आ जाती है।

दूसरे उद्योगवाले मनुष्य जैसे समाजहित का विचार करते हैं और अपना कर्त्तव्य समझ कर बहुतेरे सार्वजनिक कर्तव्यो का पालन करते है, उसी तरह मजदूरो को भी करना चाहिए। जिस मनुष्य को परिश्रम करने का अभ्यास है, वह सच पूछा जाय तो समाज का राजा है। वह किसी पर निर्भर नही, बल्कि दूसरे लोग ही उसपर निर्भर रहते है। हर एक मजदूर इस बात को जानता है कि द्रव्यवान् लोग उसपर अवलम्बित रहते हैं। वह इस बात को भी जानता है कि इसीसे वह कई बार दूसरे की असुविधा देख कर अधिक मजदूरी प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यदि मजदूर लोग अपने हित को बराबर समझ ले तो वे अधिकाधिक मजदूरी प्राप्त करने ही मे अपनी शक्ति का व्यय न कर डालेंगे, वरन् अपनी प्रतिष्ठा और अपनी स्वाधीनता बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे। एक मामूली कारिन्दे की अपेक्षा साधारण मजदूर अधिक कमाता है, अधिक उपयुक्त होता है और उसकी तुलना मे अधिक स्वतन्त्र भी होता है। परन्तु फिर भी कारिन्दा अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को सम्पादन कर सकता है, किन्तु मजदूर से अभी यह नही होता।

'सच देखा जाय तो मजदूर मालिक का आश्रित नहीं, बल्कि मालिक ही मजदूरो का आश्रित है । मजदूरों की पूंजी उनके शरीर मे है और वे उसे अपने साथ मे ले कर घूम सकते है। उन्हे इसका बोझ नहीं लगता। मालिक तो पूंजी के पीछे बँधा होता है और इसीसे वह एकता मे बधे हुए मजदूरो के सम्मुख आश्रित के समान ही होता है।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

मजदूरो का उद्धार तो तभी होगा जब वे इस बात को जानने लग जावेगे कि हम समाज की किस तरह विशेष सेवा करते हैं—समाज, व्यवस्था मे हमारा स्थान कहां है, तथा समाज के प्रति हमारा कर्तव्य क्या है। पर इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए मजदूरो को शिक्षा की आवश्यकता है। इस बात को मजदूर शिक्षा से ही समझेंगे कि देश की और संसार की स्थिति कैसी है, और उसमे मजदूर अपनी इष्टसिद्धि किस तरह कर सकते हैं। मजदूर वर्ग समाज को आबाद और बरबाद भी कर सकता है।

———

श्रमजीवी बनाम बुद्धिजीवी

उदर-निर्वाह अथवा समाज-सेवा के जो अनेक पेशे हैं उनके सामान्यत. दो भाग किये जा सकते हैं। एक श्रमजीवी और दूसरा बुद्धिजीवी। किसान, जुलाहा, राज, बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, कुम्हार गुमाश्ता, ये तो श्रमजीवी हैं। पुरानी पूजी के सूद पर अपना जीवन-निर्वाह करने वाला एक तीसरा वर्ग भी होता है। जो बिना किसी सेवा के समाज में रहना चाहता है। पर न तो उसे पेशाकार न समाज सेवक कहा जा सकता। पेशाकारो के तो केवल दो ही वर्ग है—श्रमजीवी और बुद्धिजीवी। कितने ही देशो मे इन दो पेशो मे से श्रमजीवी पेशे की अपेक्षा बुद्धिजीवी पेशे को अधिक ऊँचा मानने की मिथ्या प्रथा हो गई है।

हमारे देश मे तो श्रमजीवी पेशे को बिलकुल नीचा मानने की प्रथा बहुत पुराने समय से ही चली आई है जिसके कारण हमारे समाज को असीम हानि हुई है।

आज भी मनुष्य शिक्षा इसी उद्देश से प्राप्त करता है कि वह परिश्रम करने की सजा से बच जाय। एक दिन मैं सिंध में अपना स्नानगृह साफ कर रहा था। यह देख एक प्रख्यात धर्मोपदेशक मुझे पूछने लगे 'अजी ऐसा काम करना था तो इतनी अङ्गरेजी क्यो पढ़ी ?' चार इल्म पढ़े है, पर फिर भी अपने हाथ से काम कर रहे है। मुझे बड़ी शर्म मालूम होती है।" भारतवर्ष

की अतीत भव्यता के दिनो मे हम लोगो के ये विचार नही थे। भारतवर्ष के विद्यार्थी अपने गुरु के मकान पर पशु के जैसा कठिन काम करते। पर कभी वे ऊबते न थे और न शर्माते थे। उपनिषद् के आचार्य गुरु के गृह पर गौओ को चराते थे। श्रीकृष्ण गुरु-गृह पर रोज जंगल से लकड़ी की मोलियां लाते थे। विद्यापीठ के पण्डित लोग अवकाश मिलने पर पत्तलें वनाते थे। कोई यह नहीं सोचता था कि शारीरिक परिश्रम करने से बुद्धि का कोई उपयोग नही होता या प्रतिष्ठा को हानि पहुचती है। शारीरिक परिश्रम एक आवश्यक यज्ञ समझा जाता। इसलिए लोग सौ-सौ वर्ष तक जीते रहते थे। राजा और सरदार लोग भी कम से कम अपने शरीर को सर्व कार्य क्षम वनाये रखने के लिए सभी प्रकार के परिश्रम करने की आदत वनाये रखते। धर्म-शास्त्रकारो की आज्ञा थी कि बंजर जमीन की झाड़ी वगैरा कट जाने पर उसपर पहला हल तो राजा को ही चलाना चाहिए। क्योंकि तव राज्य का आद्य किसान राजा ही समझा जाता था।

इस प्रथा के कारण श्रमजीवी और बुद्धिजीवी वर्गों के बीच पूरा-पूरा सहयोग रहता था। बुद्धिमान् और धनवान् लोग भी परिश्रमी कारीगर वर्ग की कदर करते और दोनो वर्गों के बीच संस्कारो का विनियम होता रहता था। इसी जमाने मे यह कहावत प्रचलित थी कि किसान के शरीर पर लगी हुई मिट्टी को झाड़ दो और उसे राजवस्त्र पहना दो कि बना वह राजा।" राजोचित संस्कारो की न्यूनता उसमे कभी रहती ही नही थी। इसीलिए उस जमाने मे प्रत्येक जाति मे शूर सरदार पैदा होते थे। देश की रक्षा कैसे होगी यह कायर चिंता किसी के चित्त को स्पर्श तक

नही कर सकती थी। और जाति जाति के बीच शायद ही वैमनस्य भी कभी होता था।

आज तो अंगरेजी राज्य के कारण अथवा-इसके पहले ही से पढे-लिखे और अपढ़ो का भेद तो चला ही आया है। पर श्रमजीवी और बुद्धिजीवी के बीच भी बहुत कम आकर्षण और सम्बन्ध देखा जाता है। बुद्धिजीवी मनुष्यों को शारीरिक परिश्रम नही करना पड़ता-हो अथवा श्रमजीवियो को बुद्धि का प्रयोग नही करना पड़ता हो सो बात भी नही। पर फिरभी उपर्युक्त-भेद तो स्पष्ट ही है। आधुनिक सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक जागृति के जमाने में एक वर्ग के प्रयास दूसरे वर्ग तक पहुंच ही नही पाते। श्रमजीवी लोगो के सुख दु खो के विषय मे बुद्धिजीवी लापर्वाह भले ही न हो पर अनजान तो जरूर रहते है। बुद्धिजीवी लोग अपनी हलचलो का रहस्य श्रमजीवी लोगो को उनकी अपनी भाषा मे नही समझा सकते। इसलिए स्वराज्य के विषय में भारतवर्ष मे इतनी तीव्र उत्कंठा होने पर भी हम अपनी शक्तियो को एकत्र नही कर सकते।

इसका तो एक ही उपाय है। श्रमजीवी लोगो मे शिक्षा का प्रचार। और बुद्धि जीवी लोगो मे परिश्रम की प्रतिष्ठा। श्रमजीवी लोगो मे शिक्षा-का प्रचार करना चाहे कितना ही कठिन हो वे तो उसके लिए तैयार ही है। तहां बुद्धिजीवी लोग श्रम करने को तैयार हो जायं तो उनके लिए भी कोई काम कठिन नही रहेगा। पर उनको यह बात बडी अटपटी मालूम होती है। इन दो वर्गों के बीच जब तक सहयोग नही होगा, तब तक स्वराज्य के लिए कहिए अथवा अन्य किसी कार्य के लिए कहिए, राष्ट्र की शक्ति को

एकत्र करना दुष्कर है। शारीरिक परिश्रम के प्रति अरुचि होना बुद्धिजीवी लोगो के लिए एक सार्वत्रिक रोगसा हो गया है। यह अनुमान नहीं, अनुभव की वाणी है।

स्वराज्य की योजनायें तो हम चाहे जितनी बना सकते हैं। भला उर्वर मस्तिष्क में योजनाओं की भी कमी हो सकती है? पर उनपर अमल कौन करेगा? स्वराज्य-स्थापना के लिए आवश्यक मिहनत हम प्रस्ताव पास करके सरकार से तो नहीं करा सकते। जिसे स्वराज्य की आवश्यकता को उसीको परिश्रम की दीक्षा लेनी चाहिए, श्रमजीवी लोगों का सा जीवन व्यतीत कर उनके प्रति हमें समभाव का विकास करना चाहिए। तभी इन दो वर्गों के बीच का अंतर कम होगा। और स्वराज्य कार्य की कुछ बुनियाद पड़ेगी। जिस तरह दूसरे से कसरत कराकर मैं बलिष्ट नहीं हो सकता उसी प्रकार अपने ऐवजी या प्रतिनिधि को श्रम-दीक्षा नहीं दी जा सकती। यदि कोई कहता है कि मुझे स्वराज्य चाहिए तो उसका कोई अर्थ ही नहीं होता जबतक वह स्वयं परिश्रम करने नहीं लग जाता। जिसने स्वराज्य के लिए श्रम-दीक्षा लेली है वही स्वराज्य का भूखा कहा जा सकता है। प्रजा की शक्ति का विकास और संगठन करने का यही एक मात्र उपाय है।

यह बात समझ मे आने पर 'महासभा का सभ्य होने के लिए कातना आवश्यक है, इस नियम का अर्थ समझने में किसी को देर नहीं लगेगी। हम गत ३५-४०' वर्ष मे कहते आये हैं कि स्वदेशी में ही स्वराज्य है। उस स्वदेशी को यदि हम इतने वर्षों मे भी सफल नहीं कर बतावेंगे तो कहा जायगा कि हमने अपने देश की बुद्धि और कर्तृत्व शक्ति दोनों को अपमानित किया है।

स्वराज्य-स्थापना में जो विलम्ब हो रहा है उसको दूर करने का यही एक मात्र मार्ग है कि महासभा को सर्व-संग्राहक बनाने के लिए सभी पक्ष स्वेच्छा पूर्वक इस वस्तु का संपूर्ण स्वीकार करें।

बलिदान का शास्त्र

यदि देश को बचाना हो तो सेना को मरने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। यदि सेना कहने लगे कि 'हम लड़ने को तैयार हैं, परन्तु मरने की हमे कोई जरूरत नही मालूम होती है, मर कर देश को हमारी सेवा से हम वञ्चित क्यो करें? तो जानना चाहिए कि उस सेना मे चात्रवृत्ति नही। देश-सेवा के व्रतधारियो को इसका विचार छोड़ देना चाहिए कि स्वयं कितना कर सकते हैं। उन्हे तो यह लक्ष्य रखना चाहिए आज देश की गम्भीर स्थिति में कितने स्वार्थत्याग की आवश्यकता है। यो ही कुछ करने जाना हो या अपनी शक्ति आजमानी हो तब इसका हिसाब लगाना उचित है कि हमसे कितना दौडा जायगा। परन्तु जब महासंकट आ गिरा हो, किसी के प्राण बचाने हो, किसी डूबते हुए प्रेमी को बचाना हो, स्त्री की इज्जत की रक्षा करनी हो या शत्रु के हाथ मे से छूट कर भाग जाना हो, ऐसे प्रसङ्गो मे अपनी शक्ति का हिसाब लगाने बैठने से काम नही चलता। ऐसे प्रसङ्गो मे तो ईश्वर पर निष्ठा रख कर शरीर का ख्याल छोड़ कर ही प्रयास करना चाहिए। भले ही प्राण चले जायं। "मुझे इस काम मे मरना है, यदि ईश्वर की इच्छा होगी तो ईश्वर मुझे यश दे कर उसमे से बचा लेगा, इस वृत्ति से मनुष्य को दौड़ पड़ना चाहिए। प्रत्येक सैनिक—सच्चा वीर

इसी निश्चय से रण में कूदता है। सेना मे भरती होने के समय सैनिक यही प्रतिज्ञा करता है कि इस देश या इस गद्दी की जो सेवा आज मैंने स्वीकार की है वह मै अपने जीवन या मृत्यु द्वारा भी पूरी करूंगा।

बहुत बार मनुष्य का शत्रु 'मार' आ कर कान मे कहता है, 'अरे तू पागल तो नही हो गया है ? मर कर तेरे हाथ क्या आवेगा ? तेरा आत्म-बलिदान व्यर्थ जायगा। व्यर्थ ही क्यो बरबाद हो रहा है ? इस समय तो जीने की जरूरत है। ज्यो-त्यो करके जीले। जीता बचेगा तो फिर और लड़ सकता है।" सच्चा क्षत्रिय वीर मार को एक ही उत्तर देता है, 'ऐन वक्त पर यदि मैं पूरी सेवा न करूं तो सौ वर्ष जी कर भी मै क्या सेवा कर सकूंगा ? हम-क्षत्रिय लोग-अपने आत्म-बलिदान का हिसाब लगाने नहीं बैठते। जीवन-मरण ईश्वर के हाथ की बातें हैं। आज मै जीने का प्रयत्न करू और फिर किसी बार सेवा का अवसर ही न आवे तो ? अथवा कल बिस्तर मे पामर के समान पैर घसीट-घसीट कर मरने का समय आ जाय तो ? आई हुई घडी को धोखा दे कर आने वाली घडी का हितचिंतक मै क्यो बनूं ? उसकी चिन्ता तो ईश्वर करेगा ?

सच्चा वीर अपने काम का मूल्य गिनता है, अपने त्याग का नही। महात्माजी कारावास मे गये तब उन्होंने अपने त्याग का हिसाब नहीं लगाया था। जिस स्वराज्य के लिए उन्होंने अपना अपूर्व बलिदान दिया है वह स्वराज्य शीघ्र से शीघ्र किस तरह हस्तगत किया जाय इसीका विचार हमे हमेशा करना चाहिए। यदि किसी ने देश के प्रीत्यर्थ आत्म-बलिदान किया हो तो उसकी कदर इसका विचार करके हम नही कर सकते कि उन्हे किस तरह थोड़े

मे थोड़ा सहना पडे। वह कदर तो उनकी क्षात्रवृत्ति को स्वयं धारण करके और उनके समान स्वराज्य के फकीर बनकर ही हम कर सकते है। हरएक मनुष्य के पास त्याग के लिए इतनी चीजें नहीं होगी, जितनी उनके पास थी परन्तु सर्वस्व हवन कर देने की वृत्ति तो प्रत्येक मनुष्य उनके जितनी जरूर धारण कर सकता है। स्वराज्य-देवता को उस वृत्ति की आवश्यकता है। परतन्त्रता देवी ने हमारे पास से कम बलिदान नहीं लिया, परन्तु वह खुले दिल से नहीं दिया गया है। स्वतन्त्रता देवी बडी मानिनी है। वह उस बलिदान का अंगीकार नहीं करती जो खुले दिल से नहीं दिया गया है। उत्तेजना मे आ कर बलिदान दे देने के बाद यदि हम डींगे मारने लगेगे तो स्वतन्त्रता देवी उस भोग का त्याग करती है। हमारा भोग निकम्मा जाता है और स्वतन्त्रता देवी का अपमान होता है। एक कवि कहते हैं—"भीख मांगते देखा मैने शाह आलम के बेटो को" पर वह तो परतन्त्रता देवी का बलिदान था। वही बलिदान यदि हम स्वतन्त्रता देवी को देते तो आज हिन्दुस्थान उन्नति के शिखर पर पहुँच गया होता। स्वतन्त्रता देवी बडी नखरीली है। प्रत्येक बलि को परख-परख कर वह लेती है। उसे सन्तुष्ट करना आसान नही है। किन्तु उसका प्रसाद भी उतना ही दिव्य होता है। प्रसन्न होने पर वह विचार नहीं करती कि क्या दू। और क्या न दूं, हां, वह जल्दी नही पसीजती। जब तक प्रसन्न नहीं होती तब तक तो वह वज्रहृदया, निर्दयता की मूर्ति होता है। उसे रिझाने के लिए तो बलिदान की झडी लग जानी चाहिए। वह इसका विचार नही करती कि कौन गिरे और कितने गिरे। वह अपनी बहन 'कीर्ति-देवी' से कहती है, 'गिरे हुओ का

हिसाब तू रख। वह काम तेरा है। बलिदानों से जब मैं छक जाऊँगी तब प्रसाद दूँगी, तब तक मेरे भरने सूखे ही रहेंगे'।

हर एक वीर उस मानिनी के स्वभाव को अच्छी तरह पहचानता है। यदि भक्ति में व्यतिक्रम हो जाय तो वह भी उस मानिनी को सहन नहीं होता। स्वतन्त्रता की उपासना छोड़ कर यदि हम गाँधीजी की उपासना करने लग जायं तो भी वह सहन नहीं कर सकती। वह कहती है, 'गाँधी ने मुझे अपना सर्वस्व दे दिया, और अपने को भी दे दिया। उस पर ममत्व रखने वाले तुम कौन होते हो? यदि उसके विषय में तुम्हें इतनी ममता हो तो उसीके समान तुम भी मेरे समीप आ जाओ, मुझे अर्पण हो जाओ, मेरे लिये कुरबान होजाओ। दूसरा कोई उपाय नहीं।'

खाखी या खादी

एक लुहार था। वह अच्छी-अच्छी तलवारें तैयार करना जानता था। अनेक शूर जवान उसके पास जा कर उसकी खुशामद करके उससे तेज और पानीदार तलवारें ले जाते और लुहार की प्रशंसा करते थे। तलवारें खूब बिकीं, प्रत्येक मनुष्य को उस लुहार का और अपनी तलवार का अभिमान उत्पन्न हुआ और प्रत्येक को यह मालूम होने लगा कि मैं इस तलवार द्वारा दुनिया की भलाई करूंगा।

प्रत्येक मनुष्य दुनिया की भलाई करने चला। सो भी उस तलवार के बल पर। तलवार हाथ में आने के बाद प्रत्येक को यही मालूम होने लगा कि मेरे मन में जो विचार आ रहा है वह दुनिया के लिए फायदेमन्द ही है। बल्कि उसे निश्चय होने लगा कि मेरे इस विचार से ही संसार का भला होगा। परिणाम स्वरूप संसार का कल्याण करने के लिए सब के सब एक दूसरे के साथ लडने लगे, रक्त की नदियाँ बहने लगीं।

सबेरे ही अपनी प्रशंसा और 'जय-जयकार सुन कर जो लुहार मारे हर्ष के पागल हो रहा था, वही शाम तक अपनी कृति का ऐसा उपयोग होता देख कर पश्चाताप और लज्जा का मारा अधमरा हो गया। उसने निश्चय किया कि अब से मेरे लिए लोहे को छूना भी हराम है।

पर इतने ही मे उसे एक नया विचार सूझा। जितना लोहा उसे मिल सका उसने सभी को इकट्ठा किया, उसे तपाया और कूटकाट कर उसकी हल की नाले और हल के मुंह बना डाले, बस, उस दिन से युवक उसके पास से हल ले-ले कर जमीन जोतने लगे और शाम को इकट्ठे हो कर प्रेम-भक्ति के गीत गाने लगे, और फिर उस लुहार की 'जय' बोली जाने लगी।

हिन्दुस्थान—भोला भाला हिन्दुस्थान! शताब्दियो तक राजनैतिक झंझटों से अजान, दुनियावी या आसुरी महत्त्वाकांक्षा से विमुख और अल्पसन्तोषी रहा है। उसका यही सनातन आग्रह रहा है कि अपनी आवश्यकतायें घटा कर कम से कम की जायँ। अनिवार्य जरूरतो को पूरी करने के लिए सुगम से सुगम साधन खोज लिये जाय, और जहाँ तक बन पड़े निर्दोष और निरुपद्रवी जीवन व्यतीत किया जाय।

पर इस काव्यमय धार्मिक जीवन का रहस्य लोगो को ज्ञानपूर्वक नहीं जंचाया गया था, इसीसे हिन्दुस्थान सादा रहते हुए भी सुरक्षित नही रह सका। परदेश से चित्र-विचित्र और मोहक वस्तुओं के आते ही उसका दिल मचला। पहले हलके (तुच्छ) गिने जाने वाले दलों में मोह फैला और फिर उच्चता का अभिमान धारण करने वाली उच्च जातियाँ भी मोह के फँदे मे फँसी। कितनी ही बार तो यह उच्च दल ही पहले आगे बढ़ा, जरा ठहर कर उसने यह सोचा तक नहीं कि हमारे इस मोह का क्या परिणाम होगा उसने तो बस जो आया सो लिया, जो प्रिय लगा उसको अपना लिया।

परन्तु अध पात भी आसानी से नहीं होता। उसके लिए भी

कितनी ही श्रेष्ठ वस्तुओं को वलि देना पड़ता है । हिन्दुस्थान का स्वदेश-भक्ति और स्वातन्त्र्य-प्रेम को तिलांजलि देनी पड़ी । चाहे जिसकी तावेदारी करके उसकी ओर से लड़ने के अधर्म को भी हिन्दुस्थान को स्वीकार करना पड़ा ।

हिन्दुस्थान मे हर एक जाति का कुछ विशिष्ट चिह्न होता है। धोती, पगड़ी और तिलक पर से मनुष्य की जाति जानी जाती है। उपर्युक्त तावेदारी के धर्म के लिए खाखी पोशाक पसन्द की गई । खाखी रङ्ग ने कुछ पाप नहीं किया । खाखी रङ्ग परिश्रम का रङ्ग है, जैसे गेरुआ त्याग-वैराग्य का रङ्ग है। परन्तु खाखी का अर्थ यह हुआ कि उसको धारण करने वाला अपने मालिक की आज्ञा शिरोधार्य करके लडने को तैयार है ।

मनुष्य जिसके लिए लडता है उसके विषय मे उसके मन मे सकारण या अकारण आदर हो तब तक तो खाखी धारण करना बुरा नही गिना जाता । परन्तु जब हमने देखा कि खाखी के मानी हैं जालियावाला, और गुरु-का-बाग, तब हमारे दिल से खाखी की प्रतिष्ठा उठ गई और हमने अपने जीवन को जॉच कर खादी की दीक्षा ली । जैसे खाखी का अर्थ है तावेदारी वैसे ही खादी के मानी हैं पवित्रता, धार्मिकता और स्वतन्त्रता । खाखी मे मैल ढकने का गुण है, खादी मैल को बरदाश्त नही कर सकती। मामूली दाग भी पड़ जाय तो खादी चिल्ला उठती है 'मुझे धोओ' मेरी शुद्धि करो, शुद्धि करो ।' खादी के मानी है धार्मिकता, अद्रोह, अहिंसा, क्षमा और तेजस्विता, खाखी तलवार की प्रतिनिधि है खादी है प्रतिनिधि हल की ।

राजनीतिज्ञ जो चाहे सोचते रहे, और सरकार भी जितना

चाहे डर और लालच बतलावे। पर अब तो ईश्वर का आज्ञा पत्र छूट चुका है कि अब से हिन्दुस्थान मे खाखी धर्म का लोप होगा और खादी धर्म का उदय होगा। किसकी ताब है कि वह ईश्वर की आज्ञा का विरोध कर सके।

सच्चा सिपाही
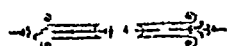
कितने ही मनुष्यो के ख्याल मे सैनिक होने के मानी है एक साथ कदम कदम उठाना और यह जान लेना कि निशाना ताक कर बन्दूक कैसे चलाई जाती है। परन्तु यह भूल है। सैनिको को अनेको प्रकार की कलाये सीखनी पड़ती है। खाई खोदना, चुनाई करना, किले बॉधना, पुल बनाना और तोड़ना, भोजन बनाना, रोगियो की शुश्रूषा करना आदि कितनी ही विद्यायें सैनिको को जाननी अत्यावश्यक होती है। उनमें से किसी भी तरकीब मे कमी हो, तो विजय के बदले ऐन वक्त पर पराजय मिलने का डर रहता है।

आज का सैनिक यह नहीं कह सकता कि राज का काम लशकरी पेशे को शोभा नही देता। देश के लिए एक बार लड़ना पसंद करते ही युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिए जो कुछ भी करना पड़े वह सब उसे सीख लेना चाहिए, फिर वह उसे पसंद हो या नहीं। उसे तो वह करना ही पड़ता है। वह देश-सेवा का व्रती नही कहा जा सकता, जो कहता है कि जैसा मैं चाहूँगा उसी तरह देश-सेवा करूँगा, तब तो कहना होगा कि देश-सेवा तो सिर्फ उसका एक शौक है। जिस तरह सिपाही की पोशाक पहन कर, कँधे पर बन्दूक रख कर, पॉच-सात मील कूच कर आने मात्र से ही मनुष्य लड़वैया नहीं बन जाता, इसी तरह शौक के लिए

सेवा करने से किसी को देश-सेवक की पदवी नहीं मिल
ती। देश-सेवा का सच्चा मार्ग तो मनुष्य को तभी मिलता
या उसके गले उतरता है जब वह इस प्रश्न को छोड़कर कि
क्या पसंद है यह देखने लगता है कि इस समय देश को क्या
हिए। यही शुद्ध दृष्टि है।

वह मनुष्य तो देश-सेवा केवल शौक के लिए करता है जो
हता है कि मुझे वाद-विवाद करना पसंद है, मैं वाद-विवाद कुशल हूँ.
न्द्व-समर मे मै प्रतिपक्षियो को परास्त कर सकता हूँ, इसके
लए मैं तो हमेशा सभाये ही करता रहूँगा। मै तो वही कर सकता
जो धारा-सभा मे जा कर मुझसे हो सकेगा। वह मनुष्य भी
श-सेवा का व्रती सिपाही नहीं कहा जा सकता, जो कहता है कि
मुझे रचनात्मक कार्य-क्रम मे आनन्द नहीं आता, इसलिए मै रच-
नात्मक कार्य नहीं कर सकता; मुझे तो जिस समय युद्ध करना
हो उस समय बुला लीजिएगा।

सच्चे सैनिक समाज-द्रोही नहीं होते। समाज-सुधार के कामो
मे उनके चित्त मे अरुचि नहीं होती। युद्ध हमेशा टिकने वाली
स्थिति नहीं है, देश मे स्वावलम्बन, उद्योग और तेजस्विता की
शिक्षा देना ही स्थायी प्रवृत्ति है। कोई भी देश निष्कारण परत-
न्त्रता मे नहीं रहता। समाज मे स्वराज्य-विघातक दुर्गुण बढ़
जाते हैं, तभी समाज परतन्त्रता में गिरता है।

कितने ही दुर्गुण तो स्वातन्त्र्य युद्ध के शुरू करते ही नष्ट
हो जाते हैं, पर कितने ही दोष ऐसे होते हैं कि वे जब तक न
चले जाय तब तक स्वातन्त्र्य-युद्ध प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। ऐसे
दुर्गुणो का नाश स्वार्थी, आरामी अथवा स्त्रैण मनुष्यो से नहीं हो

सकता। उत्साही, शूर, और निस्वार्थी मनुष्य ही उन दुर्गुणों का नाश कर सकते हैं। इसलिए यह काम उन्हींको हाथ में लेना चाहिए जो लड़वैये हों।

इसीका नाम है युद्ध की रचनात्मक तैयारी। रचनात्मक तैयारी तुम करो और युद्ध के समय मुझे बुलाओ, यह कहना और मेरे हाथ में बन्दूक भर कर रख दो, फिर मैं शिकार करूँगा, यह कहना एक सा ही है।

बहनो जागो

बहनो,

तुम जानती हो कि जहां तक हो सकता है, पुरुष-गण व्यवहार का भार तुम्हारे सिर पर नहीं डालता। तुम घर की व्यवस्था में ही मशगूल रहती हो। सगे-सम्बन्धी और बाल-बच्चे यही तुम्हारा संसार। बाहरी संसार तुम्हारे लिए प्रत्यक्ष नहीं। जब कठिन समय आता है तभी पुरुषवर्ग विवश हो तुम्हारे पास आता है, और वस्तुस्थिति का भान तुम्हें कराता है।

जबतक व्यापार-उद्योग ठीक चलता रहता है तब तक व्यापारी अपनी स्त्री के साथ अपने व्यापार सम्बन्धी कोई बात नहीं करता। घर की बातें घर में और बाहर की बातें बाहर ही रहती हैं। परन्तु जब दीवाला निकलने का प्रसङ्ग आ जाता है तब वह दीन बन जाता है और सभी बातें घर में अपनी पत्नी को भी कहने लगता है। और स्त्रियों ने भी अनेक बार ऐसे अवसर पर पुरुषों को हिम्मत और सहायता दे कर आये हुए संकट को टाला है।

आज देश में यही दशा है। देश में फाकेकशी असह्य हो रही है। करोड़ों मनुष्यों को दिन में एक बार भी पेट भर खाने को नहीं मिलता, फिर भी करोड़ों रुपये परदेश जाते हैं। देश के जुलाहों का वर्ग टूट जाने का समय आ लगा है। इज्जतदार किसान कुटुम्ब तहस नहस होते जा रहे हैं, और मीलों में या बाहर

मजदूरी करने जा रहे हैं। पशु-कुटुम्बादि की रक्षा कठिन होती जाती है। लोग-मामूली सुखी लोग-गरीबों का विचार तक नहीं करते। इतना स्वार्थ ईश्वर के यहाँ कैसे स्वीकार होगा? देश में दया-धर्म का दीवाला निकल गया है। ऐसी स्थिति में बाहर दौड़ कर हम किसे बुलावें? चौबीसों घण्टे स्वार्थ में मशगूल रहनेवाले पुरुषों के कानों में तो ढक्कन लगे होते हैं। वे धर्म की बात सुनते ही नहीं। और जिन्होंने उस बात को सुना है वे तो सर्वस्व दे बैठे हैं। किन्तु ऐसों की गिनती ज्यादा नहीं।

पुरुष कहते हैं, तुम्हारी बात सच है, पर यदि यह मान ली जाय तो हम हमारे बच्चों को क्या खिलावें?

क्या सचमुच खिलाने का सवाल खड़ा हो जाता है? नहीं। बेचारे पेट को कितना चाहिए? पेट तो सेर भर धान से भर जाता है। अतृप्त तो रहती हैं भोग-विलास की लालसा। पेट के बहाने हम सभी कुछ करने को तैयार हो जाते हैं। पेट के नाम पर लोग कितना अधर्म कर डालते हैं?

इसी तरह हर तरह का अधर्म स्त्री और बच्चों के नाम पर—आपके नाम पर होता है। क्या यह आपका ऐसा वैसा अपमान है? एक मनुष्य झूठी गवाही देने का उद्योग करके धन कमाता और अपनी स्त्री के लिए गहने बनवाता था। उस स्त्री को इस बात का पता लगते ही उसने तुरन्त सब गहने-गाँठे और क़ीमती कपड़े उतार कर पति के सम्मुख रख दिये और एक साधारण वस्त्र पहन कर कहा कि प्रतिष्ठा इसीमें है। हजारों मनुष्यों की हाय से प्राप्त किया हुआ धन हराम है।

आज विदेशी कपड़ों से सजना कुलीनता नहीं है। विदेशी

कपड़े के व्यापार से मिलने वाला धन देश को डुबो देने वाला धन है। उससे हमारा कल्याण नहीं होगा। आप इतना समझ लोगे तो परदेशी कपड़े का आपका वह मोह एक दम उतर जायगा। विषयों का गुलाम पुरुष वर्ग आपको स्वदेशी की दीक्षा देते हुए डरता है। वह अपना अधिकार गँवा बैठा है। अब यह बात आप ही को समझ लेनी चाहिए और खुद स्वदेशी की दीक्षा ले कर पुरुषों को भी स्वदेशी के उपासक बना देना चाहिए।

आप अज्ञानी भले ही होगी, किन्तु पुरुषों के समान पतित तो कदापि नहीं हो! शोभा से बढ़कर शील का महत्त्व आपके नजदीक अधिक है। जरा सोचिए तो, कि पुरुष अधर्म द्वारा आपके सौन्दर्य को बढ़ाने का प्रयत्न करे, इसमें आपका कितना अपमान है, अत. और नहीं तो केवल अपने सम्मान ही के लिए ही धर्म की ओर झुककर आप शुद्ध खादी को अपनाइए।

खादी पहनने का निश्चय कर लेने के बाद चरखा कातना आपके लिए ज़रा भी मुश्किल नहीं। वह उद्योग तो एक रानी को भी शोभा दे सकता है। कहानियों मे हम सुनते थे कि राजा रानी सोने के चरखे से सूत कातते थे। बढ़िया पूनियों में से दूध की धारा के समान बारीक सूत कातने में कितना आनन्द और विश्राम मालूम होता है। बस यह बात आपके दिल में जमने भर की देरी है।

की स्थिति, समाज की दशा, धर्म का सशोधन, सामाजिक फेरफार आदि गम्भीर प्रश्नो पर विचार करने के लिए हमें उन्हे निमन्त्रित नहीं करना चाहिए ? ऑफिस अथवा शेअर-बाजार मे सिर खपा कर भरसक थक जाने पर हम जब घर को आते हैं तो हमे मद-मंजुल वार्तालाप श्रवण करने को मिलता है। इसलिए क्या हम उन्हे (स्त्रियो को) जीवन के वास्तविक और यथार्थ स्वरूप मे अपरिचित रखें ? शिक्षित स्त्रियाँ चिट्ठी-पत्री लिख लें, सभा मे बैठने बोलने की शैली सीख जायँ, कुर्सी पर बैठे-बैठे गोद मे यदि कुत्ता या बिल्ली न हो तो रेशम की गेद ले कर कला-कौशल का काम करना सीख ले तो क्या वह काफी है ?

इस चित्र मे शायद अतिशयोक्ति भी हो। पर क्या हम नि-सकोच हो कर यह कह सकते हैं कि ऐसे आदर्श का हमे खयाल नहीं होता, अथवा धीरे-धीरे उधर हमारी प्रवृत्ति नहीं हो रही है ? वे सीना-पीरोना जानती हैं, पर इस कारण क्या हमारे दर्जी का बिल घट गया है ? यदि कम हुआ भी हो तो कितने कुटुम्बो में ? कितने शिक्षित कुटुम्बो मे हम ऐसे उदाहरण देख सकते है कि भाई के कुर्ते फटने पर बहन उनकी मरम्मत कर देती है ? कला का ऐसा सदुपयोग कितने कुटुम्बों मे हो रहा है ?

पुराने लोगो ने तो अवश्य ही स्त्रियो की दुर्दशा की है, उन्हें भोग-विलास का पशु ही समझा है। पर अभी यह नही कहा जा सकता है कि नवीन लोगो ने उनका उद्धार ही किया है। कहीं-कहीं स्त्रियो को एक-आध उद्यम सिखा कर उनकी आर्थिक स्वाधीनता का रास्ता जरूर सुगम कर दिया है, पर केवल इतना कर देने भर से कुटुम्ब और समाज मे उन्हे अपना स्वाभाविक स्थान

नहीं मिल सकता। आज तो स्त्रियों को जो पढ़ाया जा रहा है उसका स्पष्ट उद्देश यही होता है कि वे कुटुम्ब को छोड़ कर अपनी आर्थिक स्वाधीनता का प्रश्न हल कर लें। पर कुटुम्ब को साथ मे ले कर आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त कर लेने या प्राप्त कर देने की दृष्टि शायद ही कहीं देखी जाती है।

सहधर्मचारिणी इस शब्द मे स्त्री का यथार्थ वर्णन है। आसन पर बैठकर जब पुरुष कोई धार्मिक कृत्य कर रहा हो उस समय उसके पास बैठकर केवल उसके हाथ को हाथ लगा देने भर से कहीं वह सहधर्मचारिणी नहीं हो जाती। ज्ञान मे और कर्म मे, उत्साह मे और चिन्ता मे पुरुष को चाहिए कि वह स्त्री को अपने साथ रक्खे। घर मे स्त्रियों को अधिक सुख मिले, अथवा उनके प्रति अधिक शिष्टतापूर्वक व्यवहार हो इतने भर से उनकी उन्नति नहीं होगी। यह तो हर कोई सस्कारी पर विषयी मनुष्य भी करने के लिये तैयार हो जायगा। पर इससे यह न कहा जायगा कि वह नारी-प्रतिष्ठा के रहस्य को समझ गया। फर्ज कीजिए कि यदि किसी दिन स्त्रियां हमारी सभी हलचलो पर अपना अधिकार जमा लें और आज हम उन्हे जिस तरह रखते हैं उसी तरह वे हमको रखने लगे, तो क्या उस स्थिति में हमारी तमाम आकाक्षाये तृप्त हो जायँगी? क्या हमे आत्मिक संतोष प्राप्त होगा?

स्त्री-पुरुषों की शरीर रचना मे भेद है, स्वभाव मे भेद है, और ससार-यात्रा के कर्तव्यो मे भी भेद है। पर दोनो का उत्तरदायित्त्व तो एकसा ही होना चाहिए, दोनो का आनन्द एकसा ही होना चाहिए, आशा, आकांक्षा, भय और चिता भी एकसा ही होनी चाहिए। बिना उत्तरदायित्व और पुरुषार्थ के प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त

हो सकती, न टिकती ही है। उत्तरदायित्त्वहीन प्रतिष्ठा व्यर्थ का शिष्टाचार है, खुशामद है, अथवा सभ्य मजाक है। शिक्षा के मानी आलंकारिक सस्कार, या बाह्य आडम्बर नहीं। शिक्षा है उत्तरादायित्व को समझने की शक्ति, उत्तरदायित्व का उत्साह पूर्वक आह्वान कर होशियारी के साथ उसे निबाहने की शक्ति। जब तक स्त्रियो को ऐसी शिक्षा और सामाजिक प्रतिष्ठा नही मिल जाती तब तक स्त्री-स्वातंत्र्य अमृत संजीवनी होने के बदले उनका ठगने का एक मोहिनी-मन्त्र ही रहेगा।

याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति मैत्रेयी और कात्यायनी के बीच बांटकर स्वयं ब्रह्मानंद मे लीन होना चाहते थे। इसपर मैत्रेयी ने उन्हे खरी खरी सुना दी। आपको जो खास चीज प्राप्त हुई है, जिसके आनन्द मे आप यह सम्पत्ति हमे देने की आयोजना कर रहे हैं, वही मुझे दे दीजिएगा न? आप हमे अपनी संपति दे रहे है पर मै पूछती हू कि आप समस्त ससार की सपत्ति हमे देदें तब भी क्या हमे वह मिल सकता है जो आपने प्राप्त कर लिया है? आखिर याज्ञवल्क्य को कबूल करना पडा कि मैत्रेयी उससे नीची कोटि की विभूति नही थी। सावित्री के प्रति उसके पिता, नारदमुनि, श्वसुर, और पति सब ने दया दिखाई। पर उस मानिनी ने किसी एक की न मानी। अपना स्थान (दरजा) छोड कर वह सुखी रहना नहीं चाहती थी। वनवास के प्रसंग पर श्रीराम ने भी सीता के प्रति खूब दया दिखाई, अरण्य के कष्टो का भयंकर वर्णन कर उसे घर पर रहने का उपदेश किया पर जनक-तनया और राम-पत्नी कहीं दया का पात्र बनने को थी? राम को शर्माते हुए उसने कहा "मै आपके लिए भार रूप नहीं होऊंगी। जंगल

मे कांटे तथा घास के ठूंठ पैर से दबाकर आगे आगे आपका रास्ता साफ करती जाऊगी। ब्रूटस की पोर्शिया ने भी क्याही कहा है "पत्नी की हैसियत से पति की समस्त चिताओ मे और रहस्यो मे उसकी समभागिनी बनने ही मे मेरी प्रतिष्ठा है।"

समाज मे जब सीता, सावित्री, और दमयंती का स्थान स्त्रियो को प्राप्त होगा, सीता, सावित्री और दमयंती का आदर्श पुन. ताजा होगा तभी स्त्रियो की उन्नति होगी और स्त्रियो की उन्नति होने पर ही क्षीण सत्त्व देश की उन्नति होगी।

भावना की तिजोरी

स्त्री-हृदय राष्ट्र की तिजोरी है। जबतक राष्ट्रीय भावनाओं और आकांक्षाओं का स्वीकार स्त्रियों की ओर से न होगा, तब तक वे सुरक्षित नहीं, तिजोरी में किसी भी तरह की चीज रखना सुविधा जनक है। हम उस तिजोरी को दलीलों के हथोड़े से नहीं तोड़ सकते। वहाँ तो श्रद्धा की चाबी ही काम दे सकती है।

जब जब कभी समाज में कोई नया तत्त्व प्रविष्ट हुआ है तब तब स्त्री-हृदय में भारी क्रान्ति हुई है। गो-रक्षा के लिए पुरुष भले ही जी चाहे उतना लड़े हों, किन्तु हलदी और कुङ्कम से गौ की पूजा करके गाय को हिन्दू धर्म के समान ही सात्विक बनाने का संमान तो स्त्रियों को ही है।

अहिंसा धर्म को स्त्रियो ने जमानों से स्वीकार किया है। धर्म-पालन का उत्साह और पवित्रता सञ्चित करने के आग्रह मे स्त्री किसी से हार नहीं सकती।

इसीसे राजनैतिक हलचल में कोई स्वाभाविक रुचि न होने हुए भी हरएक प्रान्त की स्त्रियाँ गाँधी जी के आन्दोलन को समझने लगी हैं। स्त्री-हृदय की भावना की कद्र करने जितनी सभ्यता सीखने में सरकारों को अभी देर है। परन्तु अहिंसा धर्म का और गरीबों के प्रेम के धर्म का फैलाव करने में स्त्रियों को बहुत देर न लगेगी।

जिस तरह हिन्दुस्थान की स्त्रियो ने एक बार गो-रक्षा के लिए भारी परिश्रम किया था, उसी तरह अन्त्यजोद्धार और खादी प्रचार के काम को हिन्दुस्थान की स्त्रियाँ अपना ले तो हिन्दुस्थान मे धर्म का पुनरुद्धार होने मे 'अधिक देर न लगे। और यदि स्त्रियाँ इतना काम कर डाले तो कहा जायगा कि उन्होने हिन्दुस्थान को स्वराज्य दिलाया।

प्रेम की कठोरता

स्त्री और पुरुष का ऐक्य बतलाने के लिए स्त्री को पुरुष का आधा अङ्ग कहा है। समाज को राह लगाने की शक्ति स्त्रियो मे देख कर इस अर्ध को उत्तमार्ध नाम भी प्राप्त हुआ है। यदि समाज मे यह आधा विभाग जड़ रहे तो उसका अर्थ यही होगा कि समाज को अर्धांङ्ग (वायु) की व्यथा हो गई; यदि पुरुष तो स्वदेशी धर्म की स्थापना करना चाहे, परदेशी मे द्व छेड दे, और स्त्रियां परदेशी ही पहनी फिरे तो समाज की क्या दशा हो।

हम शत्रु के साथ प्राणान्तिक युद्ध करें और हमारी स्त्रियां शत्रु की सहायता करती रहे, ऐसी स्थिति किसी समय इतिहास मे आपने देखी है? आज वह दशा हिन्दुस्थान मे है। पुरुप शुद्ध खादी पहनते रहे और स्त्रियां विदेशी का आग्रह रक्खे यह दृश्य देखकर हिन्दू संसार के विषय मे कौन आशावान् रह सकता है? गृह-संसार मे माता-पुत्र, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि सम्बन्धो में यदि निरा स्वार्थी मोह न हो, कुछ भी प्रेम का अंश हो, तो एक को स्वदेशी धर्म में लिपटा देख कर दूसरे को प्रेम की उत्कटता के कारण तो जरूर परदेशी का त्याग सूझे।

हमे स्त्रियों के प्रति कुछ कोमलता अवश्य धारण करनी चाहिए। हमे स्त्रियो की स्वतन्त्रता न छीन लेनी चाहिये और हमें उन्हे आदर की दृष्टि से देखना चाहिए, यह सब योग्य है और

आवश्यक है। परन्तु स्त्रिया तो दुर्बल ही बनी रहेगी, स्त्रियाँ कभी मोह पर विजय नही प्राप्त कर सकती, स्त्रियो को समझाना अशक्य है यह कह कर उनकी उपेक्षा करनी या उनके प्रति दया दिखाना उनके अपमान करने के तुल्य होगा।

स्त्रियो का स्वभाव भावनामय होता है। यह मानने के लिए कोई भी कारण नही कि धर्म पालन मे वे हमसे पीछे रह जानेगी। हमने स्त्रियो को समझाने का प्रयत्न ही नही किया। जितना काम दबाव से हो सके उतना ही करा लेने को हम ललचाते है। हम चाहते हैं कि बिना ही परिश्रम कुटुम्ब मे नये सस्कार प्रविष्ट हो जायं। किन्तु यह दुराशा है। बिना परिश्रम तो खराब चीजे ही प्रविष्ट हो सकती है। हरएक अच्छी वस्तु कष्टसाध्य होती है। यदि घर-संसार सुधारना है तो स्वयं दु.खी होना पडेगा और दूसरो को भी दुखी करना पड़ेगा। एक दूसरे की कमजोरी को उत्तेजना देने से हम कुछ दिन मजे मे रहेगे, परन्तु उसमे प्रेम का खून ही होगा। प्रेम प्रसङ्गोपात्त कठोर हो सकता है; अथवा यो भी कह सकते है कि जीवन मे केवल प्रेम ही को कठोर बनने का अधिकार है।

जिन लोगो ने वैष्णव धर्म चलाया, मर्यादाये बाँध दीं; उनमे कम कठोरता नही थी। उस कठोरता ही के कारण समाज इतना शुद्ध, संस्कारी, और कला-रसिक हुआ है। शुद्ध जीवन बिताने के लिए भारतीय स्त्रियो ने जितनी कठोरता सीखी है उतनी शायद ही दूसरा कोई समुदाय सीख सकेगा। यह मान लेना हमारी दुर्बलता का सूचक है, कि आज स्त्रियाँ न मानेगी। दमयन्ती को आधा वस्त्र देते और सीता को वल्कल परिधान करते समय एक

क्षण मात्र भी विचार नही करना पड़ा था। स्वदेश रक्षा के लिए कार्थेज की स्त्रियो ने अपने बाल भी उतार दिये थे। पुरुषो को शहीद बनाने के लिए उन्होने अपने बालो की पनच गुण बना दी थी। देश और धर्म की रक्षा के लिए अपना और समाज के सतीत्व की रक्षा के लिए स्त्रियो ने अब तक क्या क्या नही कर दिखाया ?

अश्रद्धा छोड़ कर-और मिथ्या खुशामद त्याग कर हमे स्त्रियो से प्रार्थना करनी चाहिए कि वे धर्म-संरक्षणार्थ हमे सहायता दे, हमे प्रेरणा करे। परदेशी कपडे से हिन्द-माता की स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा लुटी जा रही है।

———— ————

प्रेम का अधिकार

प्रत्येक विद्यार्थी अपने घर का एक प्रिय रत्न होता है। माता-पिता अपने लड़कों को प्रसन्न रखने के लिए उनके अनुचित हठो को भी पूरा करते हैं। एक-दूसरे को सन्तुष्ट रखना यह हर एक घर का मुख्य नियम है। मनुष्य पोशाक की जो इतनी चिन्ता रखता है वह भी दूसरे का सन्तोप और आदर प्राप्त करने ही के लिए। समाज मे जो वस्तु प्रतिष्ठित गिनी जाती है उसीका सभी सेवन करते हैं।

अन्तिम बीस पचीस वर्षों का मेरा अनुभव है कि समाज में कौनसी चीज प्रतिष्ठित गिनी जाय और कौनसी नहीं, इसका निर्णय प्रौढ़ विद्यार्थी ही करते आये हैं। कालेज मे जा कर अँग्रेजी शिक्षा लेने वाला विद्यार्थी जिस पोशाक को पसद करता है वही समाज में रूढ होता चला आया है। बोलने चालने का जो ढङ्ग वह उपस्थित करता है, सामान्यजन उसीका अनुकरण करते आये हैं।

सामाजिक रीति-रिवाजो का नेतृत्व विद्यार्थियो को प्राप्त हुआ जरूर, किन्तु वे खुद ही स्वतन्त्र न थे। विलायती ढङ्ग का अनुकरण करने की ओर ही प्राय उनका झुकाव रहा। अब उनमें राष्ट्रीयता आ गई। वे समझने लग गये है कि स्वाभिमान की रक्षा ही मे पुरुषार्थ है। स्वदेशी रिवाज, स्वदेशी मान्यताये, स्वदेशी पोशाक और स्वदेशी रहन-सहन में काव्य और सुन्दरता भी है, इसे अब वे मानने लगे हैं। वे घर मे और उसी प्रकार समाज

मे भी वे एक नया ढङ्ग शुरू कर सकते हैं। यदि वे खादी का ही आग्रह रक्खेगे तो घर मे माता, पिता, भाई, बहन आदि कोई उन्हे अप्रसन्न न करेगे। जिस बालक या युवक ने अपनी सुशीलता से घर के सभी लोगो का मन चुरा लिया है उसकी सत्ता असाधारण होती है। सुशील लड़के को अप्रसन्न करने का साहस किसी मे भी नही होता। अपनी पसन्दगी घर वालो पर भी लादना यह उसका प्रेम का अधिकार है। लड़के यदि ऐसी पोशाक का आग्रह करें कि जिसमे देश का हित, धर्म की रक्षा, पैसे की बचत, गरीबो की सहायता, हाथ की कारीगरी और कुलीनता का सौदर्य भी है तो अवश्य ही उसका असर सारे परिवार पर पड़ेगा। अवश्य सम्पूर्ण कुटुम्ब मे उसका तात्कालिक प्रभाव पड़ जायगा।

यह केवल तर्क नही, प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। सन् १९०५-०७ की हलचल के अन्तर्गत जो स्वदेशी का वातावरण देश मे फैला था, उसमे हमने कितने ही विद्यार्थियो को देखा था कि उन्होने अपने-अपने घरो मे से तमाम विदेशी कपड़े निकाल कर फेक दिये थे। सरकारी अधिकारियो के लड़को ने भी अपने अपने घर मे स्वदेशी कपडे और स्वदेशी चीनी का प्रचार किया था। मुझे यह कहते हुए आनन्द होता है कि अब भी उन घरो मे देशी चीजे ही बरती जाती है। एक बार साफ किया हुआ घर प्रायः अधिकांश मे फिर कभी अपवित्रता की ओर नही झुकता; हाँ, घर के एक-आध मनुष्य को स्वदेशी-विषयक प्रेम और आग्रह जरूर रखना चाहिए।

पर हमारी उन दिनो की स्वदेशी विशुद्ध नहीं थी, तो भी कोई यह न समझ ले कि हमारे घर मे उसे प्रस्थापित करने मे हमे

कोई प्रयास नही करना पडा। परन्तु हममे मिशनरी उत्साह था। जो चीज़ गले उतर गई वह सभी के गले उतरनी ही चाहिए, ऐसा हमारा आग्रह था। हमारा हर एक निश्चय संक्रामक था। हमारी उत्कटता के सामने किसी का निरुत्साह या लापर्वाही ठहर नही सकती थी। माता-पिता हमारा उत्साह देख कर हमारे वश हो जाते थे। हमारी दलीले उनके गले उतरे या न उतरे तो भी उन्हे हमारे कथनानुसार इसलिए चलना पड़ता कि कही हम अप्रसन्न न हो जायं। वे इतना तो स्पष्ट देख सकते थे कि हमारा सङ्कल्प शुभ है, धर्म्य है और देश के कल्याण का है।

आज विद्यार्थियो मे यदि खादी के विषय मे यही लगन लग जाय, परदेशी के प्रति घृणा हो और अपने आस पास यही वातावरण फैलाने का उन्हे शौक हो तो वे अपने गांव या शहर के बहुतसे भाग को निष्पाप और निर्मल कर सकते हैं। हमारी उदासानता ही परदेशी का दल है। जहाँ जहॉ हमारे प्रेम का प्रभाव पड़ सकता हो वहॉ वहाँ हमे स्वदेशी का वायुमण्डल बनाते रहना चाहिए। स्वदेशी विषय का हमारा प्रेम इतना निर्वीर्य तो कदापि नही होने पावे कि हमारे वातावरण मे भी परदेशी कपड़े सिर ऊँचा करके घुस सके। हरएक युवक को चाहिए कि वह जहॉ जाय अपना वातावरण ले कर ही जावे। इसके लिए असहिष्णुता सीखने की आवश्यकता नही, चिढ़ाने की जरूरत नही है, आक्रामक टीका करने का भी कोई प्रयोजन नही है। जिस प्रकार मछली पानी मे ही रह सकती है उसी प्रकार हमे भी अपने स्वभाव को ऐसा बना लेना चाहिए कि हम केवल स्वदेशी के वायुमण्डल मे ही प्रसन्नता पूर्वक रह सके।

मुक्तावलि

निष्पाप जीवन मे जो सुदरता है वह बिना अनुभव के नहीं मालूम हो सकती।

प्रेम सुंदर है।

जीवन्मुक्त, मुमुक्षु, संसारी अथवा पतित, सभी एक ही ससार मे रहते है और एक ही सा काम भी करते है। परन्तु उनका हेतु भिन्न-भिन्न होने से उन्हे फल भिन्न-भिन्न मिलते है।

आत्म निवेदन—गुरु चरणो मे आत्म-समर्पण कर देने से निश्चिन्तता का आनन्द प्राप्त होता है।

खूबी तो तब है जब मनुष्य अपनी कल्पना को खुद ही कार्यान्वित करके दिखा दे।

उपादान का यथार्थ ज्ञान प्रतिभा को प्रेरित करता है।

मनुष्य का गुरु काम है।

अपने आसपास मित्र इकट्ठे कीजिए, खुशामदिये अथवा अन्ध भक्तो को नही।

नीति-नियमो की अपेक्षा प्रेम, दाक्षिण्य, दया और सहृदयता आदि स्निग्ध भाव कहीं अधिक कीमती है।

विस्मृति प्राण क्षीण होने का लक्षण है।

जिस समाज से धर्म का लोप हो जाता है उसकी स्मृति अर्थशास्त्र ही बन जाती है।

आज हमारे समाज को मन्त्र द्रष्टा ऋषियो की ज़रूरत है। समाज व्यवस्थापक आचार्य तो अपने आप आ जायेगे।

दान की अपेक्षा त्याग का महत्व अधिक है। दान दे कर हम गरीबो के कष्टो को कम करते है परन्तु सम्पत्ति का त्याग करने से तो हम गरीबो की गरीबी को ही दूर कर देते हैं। कई बार हम दान द्वारा सामाजिक पाप का प्रायश्चित करते है परन्तु त्याग के द्वारा तो हम उस पाप को ही छोड़ देते हैं।

बेगार मे पकड़ा हुआ आदमी आवश्यकता से कम काम करता है। साधारण मजूर मजूरी के पैसो के जितना काम कर देता है। परन्तु कारीगर अपने काम के प्रेम के कारण अपनी मजूरी की अपेक्षा भी कुछ अधिक ही काम कर जाता है। कारीगर कृपण नही होता।

शहर गावो की सुन्दरता को लूट लाते है, परन्तु वे सुन्दर नही बन सकते।

जो लड़का अपने समय का सदुपयोग कर सकता हो उसका संपूर्ण विकास तभी होगा, जब आप उसे संपूर्ण स्वाधीनता दे देंगे।

खेती का प्रेम होना प्रभुता का लक्षण है। परन्तु खेती से खूब पैसा कमाने की हौस का नाम खेती का प्रेम नही है।

आप चाहे कितनाही प्रगति का ढोल पीटते रहे परन्तु संसार से जो विश्रान्ति (Repose) चल बसी है वह जबतक लौट करके नही आवेगी तबतक ससार की दशा दयनीय ही बनी रहेगी।

यह संसार-चक्र प्रचण्ड वेग से दौड़ा जा रहा हैं। परन्तु कहा? किसी को पता नही है कि कहा। क्यो कि ईश्वर पर श्रद्धा ही किसे है। मनुष्य को तो यही समाधान है कि जो सब का हाल होगा वही मेरा भी होगा।

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालाएँ प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्राम संगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) उपर्युक्त प्रत्येक माला से वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार-॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फ़ीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ही ले रक्खी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्य्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≡) सर्वसाधारण से ॥।)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १३२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्राय सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष मे छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥।−)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएं। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते है—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २३६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम, पृष्ठ ४० मू० −)॥। ग्राहकों से −)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष मे उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश—पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहको से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार—पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहको से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गाधीजी ने इसके लेखको को १०००) दिया है ।

(४) हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १२० मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू०॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है ।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥।-) ग्राहको से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष मे निकल चुका है ।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ॥) ग्राहको से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है ।

दूसरे वर्ष मे लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तके निकली है

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहको से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-)ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहको से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियो और उनके कारिन्दो की काली करतूते और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लडने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहको से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियो की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये । पृष्ठ २६६ मू० ॥=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १७६२ पृष्ठो की ये ९ पुस्तके निकली है

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के द्वितिय वर्ष की पुस्तकें

(१) यूरोप का इतिहास [दूसरा भाग] पृष्ठ २२७ मू० ॥-) ग्राहकों से ।=) (२) यूरोप का इतिहास [तीसरा भाग] पृष्ठ २४० मू० ॥-) ग्राहकों से ।=) इसका प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(३) ब्रह्मचर्य-विज्ञान [ले० पं० जगन्नारायणदेव शर्म्मा, साहित्य शास्त्री] ब्रह्मचर्य विषय की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक—भू० ले० पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे—पृष्ठ ३७४ मू० ।॥-) ग्राहकों से ॥-)॥

(४) गोरों का प्रभुत्व [बाबू रामचन्द्र वर्म्मा] संसार में गोरों के प्रभुत्व का अंतिम घंटा बज चुका। एशियाई जातियां किस तरह आगे बढ़ कर राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त कर रही हैं यही इस पुस्तक का मुख्य विषय है। पृष्ठ २७४ मू० ।॥=) ग्राहकों से ॥=)

(५) अनाथा—फ्रांस के सर्व श्रेष्ठ उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के "The Laughing man" का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक हैं ठा० लक्ष्मणसिंह बी० ए० एल० एल० बी० पृष्ट ४५४ मू० १।=) ग्राहकों से १)

द्वितीय वर्ष मे १५२० पृष्ठों की ये ५ पुस्तके निकली है

राष्ट्र-निर्माण माला के कुछ ग्रंथों के नाम [तीसरावर्ष]

(१) आत्म-कथा (प्रथम खंड) म० गांधी जी लिखित-अनु० पं० हरिभाऊ उपाध्याय। पृष्ठ ४१६ स्थाई ग्राहकों से मूल्य केवल ।॥=) पुस्तक छप गई है।

(२) श्री राम चरित्र (३) श्रीकृष्ण चरित्र-इन दोनों पुस्तकों के लेखक हैं भारत के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री चिन्तामणि विनायक वेद्य एम. ए (४) समाज-विज्ञान [ले० श्री चन्द्रराज भण्डारी]

राष्ट्र-जागृतिमाला के कुछ ग्रन्थों के नाम [तीसरा वर्ष]

(१) सामाजिक कुरीतियां [टाल्सटाय] (२) भारत में व्यसन और व्यभिचार [ले० वैजनाथ महोदय बी. ए.] (३) स्वाश्रमहरिणी [वामन मल्हार जोशी] [४] टाल्सटाय के कुछ नाटक

विशेष हाल जानने के लिए बड़ा सूचीपत्र मंगाइये।

पता—सस्ता-साहित्य मण्डल, अजमेर